आभार-प्रदर्शन

उन कवियों
के प्रति—
जिनकी
रचनाओं का
यहाँ
संकलन
किया गया
है

सप्तपर्णी—

कवि

'बच्चन'
'अज्ञेय'
धर्मवीर भारती
गिरिजाकुमार माथुर
रामविलास शर्मा
नागार्जुन
शम्भूनाथ सिंह

प्रस्तुत संकलन :—

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के सात प्रतिनिधि कवियों की कतिपय रचनाओं का यह संग्रह मूलत: विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों के निमित्त तैयार किया गया है। कविता ही नहीं, यदि हम नए युग के समूचे हिन्ही साहित्य की गतिविधि पर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि हिन्दी साहित्य का वर्तमान युग नाना प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक विचारधाराओं, वादों-प्रवादों एवं नवीन वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप तेजी से बदलने वाली मान्यताओं, आस्थाओं एवं अभिरुचियों का युग है। हमारे साहित्य ने भी युग की मांग के अनुरूप, इस नए परिवेश में, अपने को नई मान्यताओं से युक्त कर उपलब्धियों के क्षेत्र में गहराई भले ही प्रदर्शित न की हो, व्यापक भूमियों तक अपना प्रसार कर कम से कम विचार करने योग्य बहुविध सामग्री तो प्रस्तुत ही की है। साहित्यिक सीमाओं में अप्रतिहत होने वाले विस्तार के इस युग में उसका इस प्रकार सचेष्ट होना अनिवार्य भी था। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के संस्थान होते हैं। वहाँ पर अध्ययन की एक विशिष्ट शैली और उसका एक निश्चित स्तर होता है। उनके ऊपर यह दायित्व होता है कि बदलती मान्यताओं वाले किसी भी युग में साहित्य अथवा कला की जो भी गतिविधियाँ सामने आ रही हों, उनका जो भी रूप बन रहा हो, उसके प्रति सजग रहकर विद्यार्थियों को उससे परिचित करायें, उन्हें बदलते हुए साहित्य के अध्ययन और परीक्षण की उस वैज्ञानिक शैली से अवगत करायें, जो उन्हें उस कला अथवा साहित्य के विषय में एक संतुलित धारणा बना सकने में सहायता प्रदान कर सके। निश्चित रूप से यह कार्य विश्वविद्यालयों द्वारा ही अधिक सम्यक् रीति से हो सकता है।

इन बातों के प्रकाश में जब हम विभिन्न विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं के हिन्दी पाठ्यक्रमों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि कविता ही नहीं, उपन्यास, नाटक सभी क्षेत्रों में वे पर्याप्त समय से एक निश्चित सीमा में बंधे हुए ही विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत होते रहे हैं—विशेषकर आधुनिक काव्य का अध्ययन तो छायावादी सीमा का अतिक्रम कर आगे का प्रकाश कभी देख ही नहीं सका है। छायावादयुग को समाप्त हुये आज लगभग पच्चीस वर्ष होने को आये और इस अवधि में भले ही छायावादी कवियों के समान महत्वपूर्ण कोई कवि व्यक्तित्व हमारे सम्मुख न आ सका हो, इतना निश्चित है कि इस काल में कविता ने साहित्य, समाज, दर्शन, राजनीति और विज्ञान की नाना नवीन भूमियों का स्पर्श किया है। उसने केवल अपनी सीमाओं का विस्तार ही नहीं किया है, नए युग के चिन्तन अथवा नये युग के मस्तिष्क को आत्मसात कर उसे अभिव्यक्त भी किया है। बुजुर्गों की भांति अनुभवों से परिपक्व वाणी वह भले ही न बोल सकी हो युवकोचित जागरूकता और सक्रियता उसने अवश्य प्रदर्शित की है। विश्वविद्यालयों से एम० ए० कक्षा उत्तीर्ण कर लेने वाले विद्यार्थी का इस नवीन प्रगति अथवा काव्य के इस नवीन स्वरूप से अपरिचित रहना, साहित्य तथा उसके शिक्षण दोनों ही दृष्टियों से उसके हित में नहीं देख पड़ता। हिन्दी कविता की २५ वर्षों की प्रगति से अपरिचित वह किस प्रकार अपने अध्ययन की पूर्णता का परिचय दे सकेगा अथवा यदि कहीं शिक्षक हुआ तो किस प्रकार अपने विद्यार्थियों को अद्यतन साहित्यिक प्रगति से परिचित करा सकेगा। ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रमों का पुनरावलोकन एवं नवीनतम साहित्यिक प्रगति के साथ उनके सामंजस्य का प्रश्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है।

वस्तुत: विश्वविद्यालयों की अब तक यह नीति-सी रही है कि कोई

भी वस्तु उनके पाठ्यक्रमों में तब तक स्थान पाने की अधिकारिणी नहीं, जब तक वह समय और साहित्य की आधारभूत मान्यताओं की कसौटी में खरी उतर कर अपने स्थायित्व का प्रमाण न प्रस्तुत कर दे और यही कारण है कि छायावादोत्तर नया काव्य कुछ अपनी विवादग्रस्त स्थिति के कारण और कुछ पूर्ववर्ती कविता की तुलना में अपने कच्चेपन के कारण पाठ्यक्रमों में स्थान देने के योग्य नहीं समझा गया। परन्तु जैसा हमने ऊपर निवेदन किया कि वर्तमान साहित्य और युग के नये परिवेश तथा अध्ययन और अध्यापन की पूर्णता को देखते हुए आज यह आवश्यक हो गया है कि उसे पाठ्यक्रमों में उचित स्थान देकर साहित्यिक अध्ययन को पूर्ण बनाया जाय। उसे स्थान न देने के मूल में अब तक जो विचारधारा कार्य करती रही है, आज उसकी स्थिति संदिग्ध हो उठी है। यह ठीक है कि आज जो काव्य-शैलियाँ हिन्दी में प्रचलित हैं तथा उनके अन्तर्गत कार्य करने वाले कवियों और रचनाकारों की उनके विषय में जो भी समीक्षाएँ प्रकाशित हो रहीं हैं उनमें पर्याप्त अतिरंजना एवं असंतुलन है, परिपक्वता तथा उपयुक्त स्तर का अभाव भी उनमें से अनेक में देख पड़ता है, परन्तु यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि यदि इस प्रकार की अतिरंजित समीक्षाओं तथा असंतुलित काव्य-दृष्टियों में उपयुक्त समन्वय और संतुलन का उद्योग किया जाय तो स्थिति का उज्वल पक्ष भी देखने को मिल सकता है। सतही रचनायें तथा समीक्षायें छँटकर अलग हो सकती हैं और स्वस्थ्य, संतुलित तथा श्रेष्ठ रचनाओं और काव्य-दृष्टियों का एक नया आलोक सामने आ सकता है। निश्चित रूप से यह कार्य प्रयत्न साध्य है और मेरी समझ में विश्वविद्यालय इसे पूरे दायित्व और क्षमता के साथ सम्पन्न भी कर सकते हैं। इस कार्य का दायित्व लेकर एम० ए० की कक्षाओं में इस नये काव्य का अध्ययन और अध्यापन इस दृष्टि से भी अत्यधिक उपयोगी जान पड़ता है कि इन कक्षाओं के विद्यार्थियों में से ही अनेक ऐसे

होते हैं जो स्वत: इस नये काव्य के रचनाकार भी हैं–और कभी-कभी तो समीक्षक तक बनने का प्रयत्न करने लगते है। यदि प्रारम्भ में ही उन्हें अध्ययन की वैज्ञानिक और संतुलित शैली द्वारा उनके प्रयत्नों के वास्तविक स्वरूप से परिचित करा दिया जाय, उस नये काव्य का जिसके प्रति उनके मन में सहज अनुरक्ति है—हिन्दी काव्य की गौरवशाली, दीर्घ और विकासमान परम्परा की संगति में दर्शन करा दिया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी दृष्टि का कच्चापन एक स्वस्थ्य, सन्तुलित और सही रूप धारण कर न केवल विद्यार्थी जीवन में वरन् आगे भी उनका पथ प्रशस्त कर उनके द्वारा नये साहित्य और कला की नयी और वास्तविक समृद्धि में सहायक बन सकता है।

सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आधुनिक समीक्षा और काव्य पद्धतियों के अध्ययन की ओर विद्यार्थियों की विशेष रुचि है। न केवल एम० ए० कक्षा के वरन् शोध के अधिकाँश विद्यार्थी आधुनिक साहित्य के विविध पक्षों पर यहाँ कार्य कर रहे हैं। आधुनिक साहित्य की नाना गतिविधियों के प्रति यहाँ के विद्यार्थियों और शोध छात्रों की इस रुचि के कारण ही जिसे स्पष्टत: विभागाध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी का संरक्षकत्व प्राप्त है—यहाँ जिस साहित्यिक वातावरण का निर्माण हो सका है, प्रस्तुत संग्रह को सामने लाने में उसने एक महती प्रेरणा के रूप में कार्य किया है। आचार्य वाजपेयी के निर्देशन में 'छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की विविध विकास-दिशायें' प्रबन्ध को प्रस्तुत कर जब मैंने विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा में इस नये काव्य के कतिपय प्रतिनिधि कवियों की कुछ चुनी हुई रचनाओं के पठन-पाठन की योजना रखी तो उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। उनका इस सम्बन्ध में यह कथन था कि भले ही इस नये काव्य मे कभी वास्तविक परिपक्वता न आ पाई हो, व्यक्तिगत रूप से विद्वान उनके अनेक पक्षों से असहमत हों, परन्तु जहाँ तक एम०ए०

कक्षा में उसके अध्यापन का प्रश्न है, अधुनातन् साहित्यिक प्रगति के परिचय और अध्ययन की पूर्णता की दृष्टि से उसे विद्यार्थियों के बीच लाए जाने में कोई भी आपत्ति न होनी चाहिए। इस अवधि के बीच जो नाना प्रकार की विचारधारायें साहित्य के क्षेत्र में पनपी हैं, यह आवश्यक है कि विद्यार्थी उन्हें जानें और उनके सम्बन्ध में अपना एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण निर्मित करें।

'सप्तपर्णी' संकलन के मूल में ये ही विचार और ये ही प्रेरणा स्रोत हैं। कवियों का चुनाव कतिपय निश्चित मानदण्डों के आधार पर किया गया है। पाठ्यक्रम के विस्तार भय के कारण संकलन सीमाओं से भी बँध गया है। चुने हुए कवियों की विशिष्ट रचनाओं को लेने के साथ उनकी कतिपय प्रतिनिधि रचनायें विशेषकर लम्बी रचनायें छोड़ भी देनी पड़ी हैं। फिर भी यह प्रयत्न किया गया है कि जिस कवि की जो भी रचनायें सामने आयें, कम से कम उसकी व उससे सम्बन्धित काव्यधारा को प्रतिनिधि विशेषताएं यथाशक्ति स्पष्ट करने में समर्थ हो सकें। यह भी विश्वास रहा है कि इन रचनाओं को आधार भूमि बना कर कवियों के शेष कृतित्व पर विशेषकर छूटी हुई महत्वपूर्ण कविताओं पर-सरलता से प्रकाश डाला जा सकेगा। कविताओं के चुनाव में यह भी प्रयत्न रहा है कि दृष्टि पूर्णत: तटस्थ होकर इस कार्य को सम्पन्न करे। समान महत्व वाले कुछ कवि भी विस्तार भय के कारण छोड़ देने पड़े हैं पर पुन: इस विश्वास के साथ कि नये काव्य की चर्चा के समय उन्हें स्मरण करने के अनेक अवसर सम्मुख आते रहेंगे। आशा है इन सभी सीमाओं पर ध्यान रख कर ही संकलन की उपयोगिता और महत्व पर चर्चा की जायगी। जो लोग विश्वविद्यालयों से संबद्ध हैं, वे कदाचित इन सीमाओं को अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं। विश्वविद्यालयों की एम० ए० अर्थात् सर्वोच्च कक्षा में नये काव्य के अध्ययन-अध्यापन

के लिए उठाया गया यह पहला प्रयत्न है। हमें आशा है कि संकलन के मूल में निहित वास्तविक भावना को पहचान कर हिन्दी भाषी क्षेत्रों के अन्य विश्वविद्यालय भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने और दृढ़ करने में अपना पूरा सहयोग देंगे और इस प्रारम्भिक अनुष्ठान की सफलता में हाथ बटाएँगे।

सागर
विजयादशमी, १९६३

—शिवकुमार मिश्र

प्रवेश :—

नये युग के हिन्दी काव्य का इतिहास कविता के क्षेत्र में होने वाली छायावादोत्तर प्रगति का इतिहास है। सन् १९३६ इस नव्यतर काव्य-प्रगति का वह प्रारम्भ-बिन्दु है जब 'कामायनी' के रूप में अपनी अन्यतम सिद्धि देकर तथा 'युगान्त' के रूप में नये युग के प्रवर्तन की घोषणा कर छायावादी कविता मूल प्रगति के रूप में एक नये प्रकार के काव्य को स्थान देकर अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूर्ण करती है, और राजनीति, दर्शन तथा सामाजिक वास्तविकताओं के विषम व्यूहों को चीरता हुआ नया काव्य हिन्दी कविता के रंगमंच पर उपस्थित होता है। संप्रति, हमारा उद्देश्य इस नये काव्य का परिचय देना ही है। जिसने छायावादी काव्य की भाँति एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में नहीं, किन्तु अनेक शैलियों में, अनेक प्रवृत्तियों के लिए हुए, अनेक धाराओं में अपनी अभिव्यक्ति की है। प्रवृत्तियों, शैलियों तथा विचार एवं भाव-धाराओं की यह अनेकरूपता ही इस नये काव्य को छायावादी काव्य से विपरीत वह विविधता प्रदान करती है जो इसका एक प्रधान लक्षण है। इस नये काव्य में यदि एक ओर छायावादी ध्वंस से उद्भूत बच्चन, अंचल और नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों की वैयक्तिक भूमिका पर रचित अत्यधिक मुखर कविता के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर छायावाद तथा उपयुक्त प्रकार की कविता की प्रतिक्रिया में जन्में, सामाजिक वास्तविकताओं के कारण उत्पन्न विषमता तथा पीड़न को एक नये विचार दर्शन की पीठिका में चित्रित करने वाले प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी काव्य का स्वरूप भी देखने को मिलता है। इसके अन्तर्गत 'प्रयोगवाद' नाम से अभिहित की जाने वाली वह काव्य सम्पत्ति भी सम्मिलित है जो कुछ तो छायावादी तथा प्रगतिवादी काव्य की अनेकानेक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में और

अधिकतर नये और पाश्चात्य प्रयोगों के फलस्वरूप भाव, विचार और शिल्प तीनों ही क्षेत्रों में नये प्रयोगों की माँग करती और उसे अभिव्यक्त करती हुई सन् १९४३ के लगभग अज्ञेय और उनके सहयोगी कवियों के संरक्षकत्व में दर्शन देती है। कुछ ऐसे कवियों का काव्य भी इस नई काव्य-प्रगति के एक महत्वपूर्ण अंश के रूप में सामने आता है जो एक ओर 'प्रगति' तथा 'प्रयोग' दोनों की ही अनेकानेक सीमाओं को स्पर्श करते हुए तथा दूसरी ओर अपने मूलरूप में दोनों को ही 'अतिवादी' घोषित करते हुए एक से स्वस्थ सामाजिक विचार तथा दूसरे से अभिव्यक्ति की नई शैली तथा शिल्प ग्रहण कर इन दोनों के 'स्वस्थ' समन्वय को ही नये काव्य की वास्तविक दिशा सूचित करते हैं। अंतत: एक ओर छायावादी संस्कारों से युक्त तथा दूसरी और युग के नूतन स्वरों से भी मण्डित वह नई गीत-कविता भी इस नये काव्य की परिधि में आ जाती है। जिसके पुरस्कर्ता के रूप में शम्भूनाथसिंह तथा उनके समानधर्मा अन्य गीतकारों का उल्लेख किया जा सकता है। इन समस्त काव्यधाराओं का सम्मिलित पुञ्ज ही छायावादोत्तर नये काव्य की इकाई का निर्माण करता है और हमारे मत में नये काव्य को इन व्यापक भूमियों में ही देखा और परखा जा सकता है। कोई भी सीमित अथवा पक्ष-ग्राही दृष्टि इस सम्बन्ध में मात्र भ्रम और विवाद को ही जन्म दे सकती है, नये काव्य का हित उससे नहीं हो सकता।

इसी क्रम में मैं आज के नये समीक्षकों द्वारा बहुचर्चित, 'नयी कविता' पर भी कुछ कहना चाहूंगा। जैसा कि स्पष्ट है आज की काव्य-समीक्षा के अंतर्गत 'नयी कविता' नाम की चर्चा सन् १९५५ के आस-पास से ही आरम्भ हुई है। सन् १९५५ से पूर्व नये व पुराने सभी प्रकार के समीक्षक छायावादोत्तर नये काव्य की विवेचना उन कोटियों के आधार पर ही करते रहे हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। हिन्दी के अधिकांश प्रतिष्ठित समीक्षक व रचनाकार आज भी नये काव्य

पर अपने विचार प्रकट करते हुए उसी क्रम का अनुगमन कर रहे हैं। इन नामों को लेकर समय समय पर 'वाद' अथवा 'शील' के प्रश्न भले ही उठते रहे हों, 'प्रगति' तथा 'प्रयोग' शब्द विवाद का विषय नहीं बने हैं। किन्तु जैसा मैंने निवेदन किया आज इन प्रचलित नामों के स्थान पर अधिकतर नयी कविता नाम का प्रचार है और उसे लगभग स्वीकार भी कर लिया गया है। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि नयी कविता नाम पुराने तथा मान्य समीक्षकों और स्वत: हिन्दी के अनेक नये कवियों और रचनाकारों के द्वारा तभी स्वीकृत हुआ है जब उसके प्रस्तुतकर्त्ताओं ने उसके पूर्ववर्ती संकीर्ण अर्थ का त्याग कर अर्थात् एक विशेष साँचे में ढली कविता को ही नयी कविता मानने का आग्रह छोड़कर उसके अन्तर्गत छायावादोत्तर समस्त नये काव्य की स्थिति स्वीकार की है। आज नई कविता के प्रारम्भिक समीक्षक व समर्थक लगभग उसी भूमि पर चलते दिखाई पड़ रहे हैं कुछ वर्ष पूर्व जिस पर चलने के लिए उनसे आग्रह किया जा रहा था। 'नई कविता' नाम के कविता-संकलनों एवं उससे सम्बन्धित इन पत्रिकाओं में एक साथ ही बच्चन, यज्ञेय, भारती, शमशेर, गिरिजाकुमार, नरेश मेहता, नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, शम्भूनाथ सिंह और यहाँ तक कि नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र जैसे कवियों की नई रचनाओं का प्रकाशित होना उपर्युक्त कथन का प्रमाण है। इस नई कविता की विविध प्रवृत्तियों का आकलन करते समय वे स्वत: उसके अन्तर्गत व्यक्तिपरक, समाज परक, गीतोन्मुखी आदि अनेक प्रकार की काव्य-दृष्टियों की स्थिति स्वीकार करते हैं कारण नई कविता छायावादी कविता के समान एक ऐसी संश्लिष्ट इकाई नहीं है जिसमें समान प्रवृत्तियों की ही सत्ता हो। उसके अन्तर्गत विरोधी प्रवृत्तियों तक का अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में छायावादोत्तर नये काव्य को 'नई कविता' नाम से पुकार भले लिया जाय उसकी विवेचना करते समय इन भिन्न प्रकार की काव्य-दृष्टियों

का उल्लेख किये बिना कार्य चल ही नहीं सकता। मैंने छायावादोत्तर नये काव्य की जिन धाराओं की चर्चा ऊपर की है उसके मूल में यही दृष्टि कार्य कर रही है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नामों पर मेरा उतना आग्रह नहीं है, विवेचन के क्रम में वे इसी कारण सामने आये हैं कि एक तो वे हिन्दी की वर्तमान कविता से सम्बन्धित परिचित नाम हैं, दूसरे जो आज तक नयी समीक्षा के क्षेत्र से सर्वथा बहिष्कृत नहीं हुए हैं, तीसरे नया काव्य जिन विविध प्रवृत्तियों से युक्त है, वे उन्हें पूरी तरह अभियंजित भी करते हैं। इस सम्बन्ध में मैंने यथा संभव तटस्थ दृष्टि से ही वस्तुस्थिति को देखने और परखने की चेष्टा की है अस्तु—हो गई।

इसके पूर्व कि इस नये काव्य के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाएँ मैं इन काव्य धाराओं का संक्षिप्त परिचय देने के साथ-साथ उनकी प्रेरक शक्तियों, प्रेरणा, स्रोतों, विशेषताओं और सीमाओं के विषय में कुछ कहना आवश्यक समझता हूँ।

छायावाद युग की समाप्ति के पश्चात् जब हम नये युग की भूमिका में प्रवेश करते हैं तब हमारा साक्षात्कार एकबारगी प्रगतिवादी कविता से न होकर एक ऐसे काव्य से होता है जिसे कुछ विद्वानों ने छायावादोत्तर ह्रासशील काव्य एवं कुछ ने छायावादोत्तर व्यक्तिपरक काव्य आदि नामों से पुकारा है एवं जिसके पुरस्कर्ता कवियों में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अंचल जैसे रचनाकारों की गणना की जा सकती है। छायावादी काव्य के ध्वंस से उत्पन्न एवं उसी के अनेकानेक तत्वों से युक्त होने के बावजूद भी यह कविता उससे मूलतः भिन्न और स्वतन्त्र स्थान रखती है। इसके मूल में यदि एक ओर परवर्ती छायावाद की कल्पनाप्रियता, वायवीयता एवं सूक्ष्म अभिव्यंजना प्रणाली के प्रति तीखी प्रतिक्रिया के तत्व विद्यमान हैं तो दूसरी ओर उन अनेक सामाजिक और नैतिक बन्धनों के प्रति खुला विद्रोह भी है जिन्होंने युगीन यथार्थ की विषमताओं से विक्षुब्ध, विक्षिप्त और हताश मध्य-

वर्गीय युवक समाज की स्वच्छन्द गति और विचारधाराओं के सम्मुख भाँति-भाँति के अवरोध उपस्थित कर उन्हें निस्तेज-सा बना दिया था, अपने भग्न आदर्शों एवं स्वप्नों की ढूह पर उसे केवल मात्र घुटने और तड़पने के लिए विवश कर दिया था। इस काव्य के रचयिता भी चूंकि इसी मध्यवर्गीय समाज के ऐसे ही हताश, पीड़ित और क्षुब्ध युवक प्रतिनिधि थे अत: उनकी रचनाओं में भी पूर्ववर्ती छायावादी कविता और तत्कालीन समाज के प्रति उपर्युक्त प्रतिक्रिया के स्वरों को पूरी शक्ति और तीखेपन के साथ सुना जा सकता है। वस्तुत: प्रतिक्रिया का यह आवेश ही था जिसने विषयों की समानता के बावजूद छायावादी कविता व इस कविता को एक दूसरे से बहुत पृथक कर दिया है। छायावादी कवियों के विपरीत इन कवियों की वैयक्तिक सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रणय तथा उसके फलस्वरूप उत्पन्न निराशा, पीड़ा, पराजय, वेदना, उमंग और उल्लास सम्बन्धी उक्तियाँ इतनी मुखर और प्रगाढ़ हैं कि अधिकांश रचनाओं में ह्रास की ही अभिव्यक्ति करती हैं। यह अवश्य है कि अपनी भावनाओं के व्यक्तीकरण में ये कवि पूरी तरह ईमानदार रहे हैं और इन्होंने अपने मन की हार और जीत को बिना किसी कृत्रिमता के, अपनी अनुभूतियों के तल में पूरी तरह डूबकर सबके सम्मुख स्पष्ट कर दिया है।

निराशा, वेदना, पीड़ा, नियति, मृत्यूपासना आदि क्षयी भावनाओं की इस प्रगाढ़ अभिव्यक्ति का ही परिणाम था कि समान मन:स्थिति वाले तत्कालीन युवक वर्ग द्वारा पूरी तरह अपनाये जाने के बावजूद वे स्वस्थमना पाठकों व समीक्षकों को आकर्षित न कर सकीं। छायावादी काव्य की परवर्ती वायवीयता, एवं उसकी अति तक पहुँची हुई प्रच्छन्नाभिव्यक्ति का विरोध तो स्वाभाविक था, बल्कि युग की माँग थी, कवियों की साफ, सीधी, सरल और अकृत्रिम भावाभिव्यक्ति भी प्रभावशाली थी परन्तु प्रतिक्रिया के आवेश में, जिस क्षय को सामने

प्रस्तुत किया जा रहा था, वह सर्वथा अवांछित था। इस स्थिति का ही परिणाम था कि उपर्युक्त रचनाकारों को एक बार अपनी स्थिति और गति के बारे में गहराई से सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा, उन्हें अपनी राह बदलनी पड़ी। बच्चन ने 'फिर से नीड़ का निर्माण कर' 'सतरंगिनी' के प्रकाश में हर्ष और उल्लास के नये गीत गाए, अचल तथा नरेन्द्र शर्मा क्षय तथा ह्रास के कुछ काल के लिए उबर कर प्रगतिवादी काव्य-भूमि पर आए और इस प्रकार इन कवियों के व्यक्तित्व का भी एक नया पक्ष स्पष्ट हुआ।

प्रस्तुत काव्य-प्रवृत्ति का विवेचन करने के उपरान्त अब हम प्रगतिवादी काव्य की सीमा में प्रवेश करते हैं जो स्पष्टत: उस प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन की उपज है, सन् १९३६ के पश्चात् जो न केवल हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में वरन् समूचे भारतीय साहित्य-जगत में युग की अनिवार्य माँग बन कर अवतरित हुआ था। युगीन यथार्थ की जिस विषण्णता एवं कटुता की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं, प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल में भी प्रधानत: उन्हीं की सत्ता है। सन् १९३६ तक पहुँचते २ इस यथार्थ का स्वरूप और भी अधिक उभर कर सामने आ गया था। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में एक गहरी अस्तव्यस्तता दिखाई पड़ने लगी थी। एक ओर तो सम्भावित युद्ध संकट और दूसरी ओर उसके फलस्वरूप व्याप्त मँहगाई, मन्दी और बेकारी ने समाज के मध्य और निम्न वर्गों की कमर तोड़ दी थी। समझौतों और दमन के ऊहापोह में फँसे हुए राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि भी बहुत आशाजनक न थी। मजदूर और किसान अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी विचारधाराओं का आश्रय ग्रहण कर भीषण संघर्ष कर रहे थे। उनकी ऐतिहासिक हड़तालों और जागृत अभियानों को जैसे सरकार का दमन-चक्र सदा सदा के लिए कुचल देने के लिए कटिबद्ध हो उठा था। सारे का सारा समाज एक अत्यधिक अशान्त मन:स्थिति के बीच से गुजर

रहा था। रूस की बहुमुखी प्रगति और वहाँ की समाजवादी-मार्क्सवादी विचारधारा तेजीसे न केवल जन समुदाय वरन् राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार देश के बड़े-बड़े नेताओं तक को आकर्षित कर रही थी। सन् १९३१ में होने वाले कराँची के काँग्रेस अधिवेशन में राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ करोड़ों भूखे मरने वालों को आर्थिक स्वाधीनता का नारा तो दिया ही जा चुका था, सन् १९३६ में लखनऊ के काँग्रेस-अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समाजवादी पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाल कर स्थिति को और भी स्पष्ट कर दिया। युगीन यथार्थ की इसी पृष्ठभूमि में नवीन मार्क्सवादी समाजवादी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर देश के कतिपय बुद्धिजीवियों द्वारा प्रगतिशील आन्दोलन की नींव डाली गई। यूरोप की भाँति भारत में भी प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और सन् १९३६ में ही लखनऊ में मुं० प्रेमचन्द के सभापतित्व में उसका प्रथम अधिवेशन किया गया। इस नये प्रगतिशील आन्दोलन को देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों एवं साहित्यिकों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए मुं० प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में निराशावादी-पराजयवादी साहित्य के स्थान पर एक नये प्रकार के आशा और आस्थावादी साहित्य का निर्माण करने के लिये देश के साहित्यकारों का आह्वान किया। युगीन साहित्यिक रंगमंच पर कवियों का एक ऐसा वर्ग भी था जो वस्तुस्थिति को ही सत्य समझ कर, व्यापक निराशा और पराजयवादी भावनाओं को ओढ़ उन्हीं को प्रत्यक्ष करने में अपने कवि-कर्म और साहित्यिक दायित्व की इति-श्री समझ रहा था, परन्तु प्रगतिशील आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण कर नये और उत्साही रचनाकारों का एक ऐसा समुदाय भी सामने आया, जिसने वस्तुस्थिति की विषमताओं और कटुताओं में जकड़े समाज और साहित्य को नये और स्वस्थ मार्गों की ओर ले जाने का संकल्प किया, निराशा, पस्ती और पराजय के स्थान पर आशा और आस्था के स्वरों का संधान किया। कविता कल्पना के लोक से उतर

कर यथार्थ की भूमि पर आ ही चुकी थी, केवल क्षय तथा ह्रास को दूर कर नये उपकरणों से साहित्य और काव्य का नया संस्कार मात्र करना शेष था। आशा और आस्था के वातावरण में यह कार्य सम्पन्न हुआ और हिन्दी कविता के क्षेत्र में उस काव्य का आविर्भाव हुआ जिसे प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा दी जाती है। प्रगतिशील लेखक संघ के आगे भी अनेक अधिवेशन हुए जिनमें साहित्य और समाज से सम्बन्धित नाना प्रकार की समस्याओं पर विचार कर साहित्यिकों के समक्ष नई दिशाओं को स्पष्ट किया जाता रहा।

प्रगतिशील आन्दोलन और विचारों का प्रभाव यों तो समूचे साहित्य पर पड़ा, किन्तु काव्य के क्षेत्र में तो उसने एक नये युग की प्रतिष्ठा की जिसे प्रगतिवादी युग के नाम से पुकारा जाता है। प्रगतिवादी दृष्टि से युक्त होकर नये कवियों और रचनाकारों ने पुराने काव्य से भिन्न नई मान्यताओं से मण्डित नये काव्य की रचना की। कविता और वैयक्तिक सीमाओं से निकलकर समाजपरक बनी, महान चरितनायकों के स्थान पर सड़क के साधारण मनुष्य ने काव्य के नायकत्व का पद प्राप्त किया, जो राजनीति अब तक साहित्य अथवा काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत समझी जाती थी उसे उसमें प्रश्रय मिला, कविता का क्षेत्र सीमित न रह कर जन-जन की भावनाओं तक विस्तीर्ण हो गया। उसमें जनता के दुख-दर्दों की अभिव्यक्ति के साथ एक नये भविष्य की रूपरेखा भी साकार की गई। विचारों और वस्तु के क्षेत्र में ही नहीं कला और शिल्प के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए फलतः भाषा, छन्द, अलंकार, रूपविधान सभी को जनवादी साँचे में ढालकर नया संस्कार दिया गया।

जहाँ एक ओर प्रगतिशील आन्दोलन ने काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्र में अपनी उपर्युक्त स्वस्थ्य भूमिका अदा की, वहाँ कालान्तर में उसने कतिपय ऐसे प्रश्न भी उपस्थित किये जिन्होंने उसकी उपर्युक्त लोकप्रियता तथा काव्य और साहित्य के क्षेत्र में उसकी उस भूमिका को बहुत कुछ सतही स्थूल और अतिवादी भी बना दिया। यह सिक्के का दूसरा

पहलू था जिसका महत्व भी पहिले से कुछ कम नहीं है। अपने इस रूप में प्रगतिवादी काव्य अनेक कवियों द्वारा मात्र राजनीतिक प्रचार का माध्यम बना दिया गया, अनुभूति और अभिव्यक्ति के सशक्त उपादानों के अभाव में बहुत सा ऐसा अनपेक्षित द्रव्य एकत्र कर दिया गया जो कविता से कम काव्येतर क्षेत्रों से अधिक सम्बन्धित था। प्रगतिवादी काव्य के इस रूप के प्रति एक सहज प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी और उसके दर्शन भी हुए। अनेक कवियों ने अपनी अतिवादिता का अनुभव कर अधिक प्रशस्त मार्गों पर चलने का संकल्प किया और उसके उदाहरण भी सामने रक्खे।

प्रगतिवादी काव्य के उपर्युक्त दोनों ही रूप अपनी समग्रता में उसे अवश्य कतिपय विशेषताओं और साथ ही दुर्बलताओं से युक्त कर देते हैं परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि इस काव्य ने कृतित्व के क्षेत्र में उतना न सही, विचारों के क्षेत्र में अवश्य हिन्दी कविता को एक अभिनव और युगान्तरी दिशा की ओर बढ़ाया है। पूर्व युगीन मान्यताओं के स्थान पर उसने जिन नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा की है, अपने व्यापक रूप में आज वे ही हिन्दी काव्य के आगामी विकास की रूपरेखायें रच रही हैं। प्रगतिवाद के नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा जैसे कवियों का कृतित्व भी अनेक क्षेत्रों में हमारे नये रचनाकारों और नए काव्य के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सकता है।

प्रगतिवादी काव्य अपने विकास की टेढ़ी-सीधी पगडंडियों को तय ही कर रहा था कि सन् १९४३ में श्री अज्ञेय द्वारा प्रकाशित 'तारसप्तक' नामक काव्य-संकलन ने हिन्दी जगत को एक नवीन काव्य-प्रवृत्ति से परिचित कराया जो संग्रह में अज्ञेय जी की भूमिका तथा संग्रहीत कवियों में से कुछ के वक्तव्यों में काव्य-गत प्रयोगों की विस्तृत चर्चा के कारण प्रयोगवाद नाम से पुकारी गई। सन् ९४७ में अज्ञेय जी के ही सम्पादकत्व में 'प्रतीक' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन हुआ तथा सन् १९५२ में 'दूसरा सप्तक' नामक एक अन्य कविता संकलन

भी उन्हीं के सम्पादकत्व में निकला। 'प्रतीक' एवं 'दूसरा सप्तक' की अनेक रचनाओं ने प्रयोगवाद सम्बन्धी उस चर्चा को नया बल प्रदान किया जो 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कविता के क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रारम्भ हो चुकी थी। इन संकलनों तथा उनके प्रकाशन के फलस्वरूप होने वाली इस चर्चा ने 'प्रयोगवाद' नामक इस नई काव्य-प्रवृत्ति की स्थिति लगभग निश्चित कर दी। प्रयोगवाद के साथ-साथ 'नकेनवाद' नामक एक अन्य काव्य-प्रवृत्ति भी बिहार के कतिपय प्रयोगाभ्यासी कवियों द्वारा सामने लाई गई, अपनी अतिवादिता के कारण सौभाग्यवश जो अपने प्रवर्त्तकों तक ही सीमित रह कर शान्त हो गई। अधिक प्रसार पाने की न तो उसमें क्षमता ही थी और न ऐसा सम्भव ही हो सका।

प्रयोगवादी काव्य के उद्भव का इतिहास भी वस्तुतः बच्चन, अंचल आदि कवियों द्वारा रचे गये ह्रासशील काव्य तथा प्रगतिवाद काव्य की भाँति उन युगीन परिस्थितियों से ही सम्बद्ध है, सन् १९३० के बाद से द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात् तक जिन्होंने सारे भारतीय समाज को अशान्तकर रखा था। युगीन यथार्थ की कटुताओं से संत्रस्त मध्यवर्ग के जिस व्यक्ति-मानस से बच्चन जैसे कवियों के काव्य में अभिव्यक्ति पाई है, वही इस प्रयोगवादी काव्य के केन्द्र में भी स्थित है, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ बच्चन जैसे कवियों का काव्य अपनी प्रवृत्तियों में धारावाहिक और स्पष्ट है, पश्चिमीय वादों के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है, वहाँ इसमें पश्चिम के अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद जैसे साहित्यिक-दार्शनिक आन्दोलनों के प्रभावों के साथ-साथ मनोविज्ञान की बारीक रेखाओं के बीच से संत्रस्त, पीड़ित और विक्षुब्ध मध्यवर्ग की स्थिति का निरूपण किया गया है। अपनी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति में यदि यह एक ओर सारे समाज को चुनौती के स्वरों में ललकारने वाली अनेकानेक कविताओं से युक्त है, तो दूसरी ओर व्यापक अनास्था, पीड़ा एवं मानसिक घुटन को प्रत्यक्ष करने में पश्चिम के युद्धोत्तर कवियों में

से अनेक के काव्य से गहरा साम्य सूचित करता है। विचार एवं वस्तु के क्षेत्र में ही नहीं कला और शिल्प के क्षेत्र में भी यह पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से भिन्न नई लीकों पर चला। सच पूछा जाय तो प्रयोगवादी काव्य का उद्‌भव प्रारम्भ में कला और शिल्प के आन्दोलन के रूप में ही हुआ था, उसका जीवनदर्शन तो कालान्तर में स्पष्ट हुआ। भाषा, छन्द रूप विधान, अलंकार सभी क्षेत्रों में उसने नये प्रयोगों का उदाहरण प्रस्तुत किया, भाँति-भाँति के तर्कों द्वारा उसके अनुयायियों ने उनकी अनिवार्यता का प्रतिपादन किया और इस नये शिल्प को ही नये युग की कविता का वास्तविक परिधान घोषित किया। 'तीसरा सप्तक' व 'दूसरासप्तक' की भूमिका व 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में अज्ञेय जी ने काव्य अथवा साहित्य सम्बन्धी अनेक मूलभूत सैद्धान्तिक प्रश्न भी उठाये जो इस काव्य की वास्तविक सैद्धान्तिक आधार शिला की प्रतिष्ठा करते हैं। उन्होंने तर्क दिया कि हर युग के काव्य का अपना एक सत्य होता है जो आगामी युगों में परिस्थितियों तथा परिवेश के बदलने के साथ-साथ अपनी मार्थकता खो दिया करता है। चूंकि आज के युग में जीवन पहले से अधिक विषम व जटिल है, कवि की अनुभूतियाँ उलझी हुई हैं अतः आज के कवि का दायित्व काव्यगत उस नये सत्य की खोज है जो युग जीवन के साथ अपना सामंजस्य बिठा सके आज का प्रयोगशील कवि इसी के लिए प्रयत्नशील है। अपनी उलझी अनुभूतियों की अक्षुण अभिव्यक्ति के साथ-साथ वह उन नई राहों के अन्वेषण में लीन है जो उसे अभेद्य क्षेत्रों की ओर ले जाकर उसे उस नये सत्य का दर्शन कराने की क्षमता रखती हैं। उन्होंने आज के कवि की तुलना उस गोताखोर से की जो मोतियों की प्राप्ति की आशा में सागर के गहरे जल में गोते लगाता है। चूंकि महत्व गोताखोर के मोतियों की प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्नों का नहीं उसकी वास्तविक उपलब्धि का होता है, अतः आज प्रयोगशील कवि सच्चे अर्थों में सारे खतरों को उठाता हुआ, अपने कवि-कर्म को सारी गम्भीरता और साधना के साथ ले रहा है।

आज की काव्य-भाषा भी युगानुकूल इस नये सत्य का वहन करने में चूंकि असमर्थ है अत: वह आज की भाषा को एक नया संस्कार देकर शब्दों में नये अर्थ भर कर उसे वास्तविक अर्थों में प्रेरणीय बनाने के लिए भी प्रयत्नशील है। आज साधारणीकरण की प्रक्रिया भी पूर्व युगों से भिन्न नई भूमिकाओं में देखी और परखी जाने के योग्य बन गई है। आज आवश्यकता पुरानी पिटी पिटाई लीकों पर चलने की नहीं वरन् व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य में परिवर्तित कर साधारणीकरण की मूल-भूत स्थापना को बदल देने की है। परम्परा का अर्थ भी आज पुराने को यथावत् ग्रहण करने में नहीं वरन् काफी छानबीन करने के पश्चात् मात्र उस पुराने को साथ लेकर चलने में है जो नई उपलब्धियों की संगति में अपनी सार्थकता को प्रमाणित करने की क्षमता रखता हो। अपनी इन सारी प्रक्रियाओं से गुजरने के पश्चात् आज के काव्य का बौद्धिकता से पूर्ण फलत: जटिल और दुरूह हो जाना भी सहज स्वा-भाविक है, पर उसके लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं कारण आज का काव्य बौद्धिक युग की उपज होने के कारण बौद्धिकता में ही जी और पनप सकता है। इन सारी सैद्धान्तिक मान्यताओं की समष्टि ही आज के नये काव्य की वास्तविक आधारशिला बन सकती है। यहाँ हमारा उद्देश्य अज्ञेय जी की मान्यताओं का विश्लेषण करना नहीं है फिर भी उन्हें लेकर आज तक हिन्दी काव्य के क्षेत्र में जो चर्चा हुई है, उसकी तथा उनके आधार पर रचे गये प्रयोगवादी काव्य के वास्त-विक स्वरूप की पृष्ठभूमि में हम इतना कह सकने की स्थिति में अवश्य हैं कि प्रयोगवादी कवियों का कृतित्व नये युग के उपयुक्त नये सत्य की खोज और प्रेषणीयता के जिन मानदण्डों को लेकर सामने आया, उसने वस्तु और शिल्प के क्षेत्र में जिन नये प्रयोगों को प्रस्तुत किया वे इतने अधिक ऐकान्तिक युग सत्य से असंपृक्त तथा हिन्दी काव्य की विकासशील और पुष्ट परम्परा से इतने अधिक कटे प्रतीत हुए कि प्रयोगवादी काव्य नये युग की वास्तविक काव्याभिव्यक्ति कह-

लाने का गौरव नहीं प्राप्त कर सका। उसने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के एक अंश के मानस का तो यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया पर अपनी व्यापकता में इतना पूर्ण नही बन सका कि सीमाओं का अतिक्रम कर सामूहिक अथवा सार्वजनीन कहला सकता। उपलब्धियाँ उसने कीं, और जो अनेक क्षेत्रों में सार्थक भी हैं परन्तु वह उन दावों को पूरी तरह प्रमाणि नहीं कर सका जिन्हें सम्मुख रख कर उसकी रचना की भूमिकाएँ बाँधी गई थीं। पाश्चात्य जगत के नाना दार्शनिक-साहित्यिक वादों-प्रवादों के ऊहापोह में फँस कर उसने इस प्रकार की रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं जो स्वस्थ्य भी नहीं कही जा सकतीं। कहीं तो फ्रान्स के रिम्बो, मेलार्मे आदि प्रतीकवादियों से प्रभावित हो उसने संकेतगर्भी प्रतीकों को प्रश्रय दिया, कहीं सात्र जैसे अस्तित्ववादियों के प्रभाववश क्षणवादी विचारधारा से पूर्ण असामाजिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं, कहीं इलियट और अंग्रेजी के युद्धोत्तर नये कवियों की भाँति यूरोप के युद्धोत्तर जर्जर, विषाक्त, निराशावादी और अनास्थामय कवि-मानस को अपने मस्तिष्क पर प्रतिष्ठित कर हमारे युग जीवन से कटी हुई अनास्थामय कविताएँ रचीं और कहीं प्रगतिवादी सामाजिकता की घोर प्रतिक्रियावश व्यक्तिवादिता का प्रचण्ड स्वरों में उद्घोष किया। यही नहीं फ्रायड और अतियथार्थवादियों से प्रेरणा ग्रहण कर अनेक अस्वस्थ्य और सतही रचनाओं की भी सृष्टि की गई जो स्पृहणीय नहीं मानी जा सकती। कला और शिल्प के क्षेत्र में भी भारतीय काव्य परम्परा से कटकर उसने पाउन्ड, डायलन, टामस, कमिंग्स, इलियट तथा बिम्बवादी कवियों का आश्रय लेकर रूपविधान, भाषा तथा छन्दों के क्षेत्र में चमत्कारिक प्रयोग किये जो काव्य-शिल्प में वैविध्य लाने में भले ही सहायक सिद्ध हुए हों किसी अनुकरणीय आदर्श को सामने रखने में सफल हो सके। प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय तथा भारती एवं कुछ दूर तक उनका साथ देने वाले गिरजाकुमार, नरेश मेहता तथा शमशेर जैसे मध्यवर्ती व्यक्ति ही ऐसे कवि हैं जो विचारों तथा शिल्प के क्षेत्र में कुछ विचारणीय व्यक्तिगत

उपलब्धियाँ कर सके हैं, परन्तु यदि हम समग्र रूप से नये काव्य के प्रयोगवादी पक्ष द्वारा प्रस्तुत कृतित्व का आकलन करें तो उसमें और स्वत: उपर्युक्त कवियों की ही अन्यान्य रचनाओं में ऐसा विशेष कुछ नहीं प्राप्य होता जिसे हम कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि स्वीकार कर सकें बल्कि उसकी अतिवादिता, नयेपन का अतिरिक्त मोह, जीवन-दर्शन की ऐकान्तिकता आदि बातें तो ऐसी हैं जो प्रतिक्रिया के चरम उन्मेश को सूचित करने के कारण बहुधा त्याज्य तक बन गई हैं, साथ ही प्रयोगवादी कवि को सौन्दर्य और जीवन दृष्टि का विकृत उदाहरण तक प्रस्तुत करती हैं।

युगीन सत्य से प्रयोगवादी जीवन दृष्टि के इस अलगाव अथवा युगीन यथार्थ से संत्रस्त, विक्षुब्ध फलत: गहरी व्यक्तिवादिता लिये अनास्था, पराजय, पीड़ा एवं दर्द आदि भावनाओं को मनोविज्ञान की सारी सूक्ष्मताओं में वर्णित करने वाले उसके कवियों के कृतित्व के इस रूप का ही परिणाम था कि अनेक नये कवि और रचनाकार जो किसी समय नयी कला और नये शिल्प के मोह में प्रयोगवादी आन्दोलन की ओर झुक गये थे, उसके जीवन-दर्शन से अपना सामन्जस्य न बिठा सकने के कारण उससे पृथक् हो गये। इन कवियों में से अधिकाँश का सम्पर्क प्रगतिशील आन्दोलन के साथ भी रह चुका था, जो उसकी सामाजिक जीवन दृष्टि से प्रभावित भी थे। प्रगतिशील आन्दोलन से कट कर उनके दूसरी ओर मुड़ने का प्रधान कारण यही था कि प्रगतिवादी मान्यताओं की सीमा में उन्हें कला अथवा शिल्प की अपनी अभिरुचि अथवा आकांक्षाओं को पूरी तरह प्रदर्शित करने का अवसर न मिल रहा था। फलत: उन्होंने प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद दोनों को ही अपर्याप्त और अतिवादी घोषित कर अपने अलग मार्ग पर चलना निश्चित किया। इन कवियों में से कुछ कवि ऐसे थे जिनके मध्यवर्गीय संस्कार एक ओर तो उन्हें प्रयोगवादी जीवन-दर्शन की ओर आकर्षित करते थे, दूसरी ओर उनका विवेक उन्हें प्रगतिशील सामाजिक जीवन

दृष्टि देकर आगे बढ़ने को बाध्य करता था, फलत: अंग्रेजी के आडेन स्पेन्डर, डेलेविस जैसे कवियों की भाँति संस्कार और विवेक की कश-मकश से ग्रस्त वे वैयक्तिकता तथा सामाजिकता अथवा व्यष्टि या समिष्ट के उभयकूलों का स्पर्श करते रहे। कुछ में प्रयोगवादी एवं प्रगतिवादी जीवन दर्शनों की द्वन्द्वरहित उपस्थिति भी दिखाई पड़ी और कुछ को नये काव्य की आगामी दिशा प्रगतिवाद की सामाजिक वस्तु एवं प्रयोगवाद नये शिल्प के समन्वय में ही समझ पड़ी। तात्पर्य यह कि ये सारे कवि एक ओर तो प्रगतिवाद की अनेकानेक मान्यताओं-विशेष कर उसकी सामाजिक जीवन दृष्टि के प्रति अनुरक्त रहे, दूसरी ओर प्रयोग-वाद की अनेक मान्यताओं-विशेषकर उसके कला-शिल्प से प्रभावित रहे, फलत: इनकी रचनाओं का जो भी स्वरूप सामने आया वह प्रगति तथा प्रयोग दोनों की ही सीमाओं से संयुक्त होने के कारण बहुत अतिवादी न बन सका और इस कारण अपेक्षाकृत ग्राह्य भी हुआ। शमशेर और गिरजाकुमार जैसे कवियों के साथ तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक' के अधिकांश कवि प्रगति तथा प्रयोग की इस मध्यवर्ती पथ के ही पथिक माने जा सकते हैं, उन्हें प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में से किसी के भी साथ एकान्तिक रूप से सम्बद्ध नही किया जा सकता।

इतना होने पर भी इन कवियों के कृतित्व की अपनी सीमायें भी हैं। प्रगति तथा प्रयोग के उभय कूलों का स्पर्श करने के कारण उनका काव्य भले ही अतिवादी न बन सका हो—एक तो अधिकांशत: द्वन्द्व ग्रस्त मन की उपज होने के कारण, दूसरे समन्वय की सजग चेष्टा के कारण और तीसरे प्रगति तथा प्रयोग दोनों की ही एकत्र उपस्थिति के कारण उसमें या तो किसी गहरे Initiative का अभाव या एक चेष्टागत कृत्रिमता या फिर विचारों एवं व्यक्तित्व का अन्तविरोध अवश्य देख पड़ता है, जो सूचित करता है कि किसी स्वतन्त्र जीवन दृष्टि के अभाव में मात्र समन्वय या द्वन्द्व के आधार पर रची गई कविता अपने में उतनी प्राणवान नहीं होती जितना कि वह कविता जो भले ही

विवाद्य हो परन्तु अपनी जीवन दृष्टि का स्वत: निर्माण कर उसके द्वारा निर्देशित पर निर्भयता पूर्वक आगे बढ़ा करती है। यही कारण है कि प्रगतिवादी कवियों का आस्थायुक्त अपने पथ पर निर्भीक प्रमाण, भले ही वह पथ सर्वमान्य न हो, एक आकर्षण अवश्य रखता है, तथा व्यक्तिवादी अज्ञेय की समाज को दी हुई चुनौतियाँ भले ही वे असामाजिक हों-अपनी उद्दामता मे विशिष्ट और प्रभावशाली प्रतीत होती हैं-भारती के स्पष्ट कथन विचारोत्तेजक मालूम होते हैं। मध्यमार्गी कवियों का समन्वय अभी अपनी उस पूर्णता को भी नहीं पहुँच सका है जो उसे एक स्वतन्त्र वस्तु के रूप में आगामी काव्य का आदर्श बना सकता और न द्वन्द्व ही उस चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर सका है जो किसी अन्तिम निर्णय की तात्कालिकता को सूचित कर आगे की निर्द्वन्द्वता के प्रति हमें आश्वस्त करता। फिर भी प्रगति और प्रयोग इन दोनों ही दृष्टियों के बीच से एक स्वच्छ पथ का निर्माण करने के लिए ये कवि प्रयत्नशील अवश्य हैं, आशा की जा सकती है कि उनके ये प्रयत्न उनके काव्य के साथ-साथ हिन्दी के नये काव्य को भी उसकी इच्छित दिशा की ओर ले जाने में सफल होंगे।

छायावादोत्तर नये काव्य की अन्तिम कड़ी के रूप में हम उस नयी गीत-कविता को लेते हैं जो एक साथ ही छायावादी संस्कारों से भी युक्त है तथा नये युग की नयी अभिव्यन्जना को भी समेटे हुए है। नव-युग के गीतकारों ने उसे परम्परा से जोड़े रख कर जहाँ अपने परम्परा प्रेम का परिचय दिया है, वहाँ उसे नयी अभिव्यक्ति से समन्वित कर अपनी सजगता का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। यह गीत-कविता यदि हम लोकप्रियता की दृष्टि से विचार करें तो आज की समस्त काव्य सम्पत्ति में सर्वाधिक लोकप्रिय है। कवि सम्मेलन इसकी लोकप्रियता के मूल आधार रहे हैं, जिन्होंने उसे गहराई भले ही न प्रदान की हो व्यापक जन समुदाय के बीच उसे पहुँचा कर जन-मन में कविता के प्रति एक अनुरक्ति अवश्य उत्पन्न की है। जनरंजन ही इस कविता

का वास्तविक महत्व हो, ऐसा नहीं है, संगीत, लय, भाषा और छन्दों के क्षेत्र में यह पिछले गीतों की अपेक्षा नये संस्कारों से युक्त फलतः हिन्दी गीत-कविता का नया विकास सूचित करती है। लोक संगीत, लोक लयों और लोक भाषा को प्रश्रय देकर इसने अपने रचयिताओं की जनवादी भावना को सामने रखा है जो आज के युग की एक विशेषता है। पुराने विषयों के साथ-साथ युग के जटिल जीवन ने भी उसमें अभिव्यक्ति पाई है। ह्रास के साथ-साथ उसमें नये जीवन के निर्माणकारी नये तत्वों और नयी जीवन दृष्टियों का भी योग है। इस कविता का यदि कोई सबसे अधिक दुर्बल पक्ष कहा जा सकता है तो वह उसके रचयिताओं का सस्ती लोकप्रियता के फेर में फँस कर मात्र उच्छ्वास और भावना के स्तर पर हलकी और सतही अभिव्यक्तियाँ करना है। काव्यतत्व को सुरक्षित रखते हुए यदि यह कविता लोकप्रियता को प्राप्त करने का उपक्रम करे तो इसमें सन्देह नहीं कि उसका भविष्य उज्वल है। कतिपय नये गीतकारों के इस ओर किये गये प्रयत्न इस आकांक्षा को बल भी प्रदान करते हैं।

छायावादोत्तर नये काव्य की ये ही प्रतिनिधि धारायें हैं—अपनी समग्रता में जो वर्तमान नई कविता का निर्माण करती हैं। स्पष्ट है कि इस वर्तमान युग में हमारे साहित्य तथा काव्य पर पाश्चात्य साहित्य तथा विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। पश्चिमी साहित्य की तुलना में हमारा हिन्दी साहित्य अभी नया ही है, यही कारण है कि पाश्चात्य जगत में जो भी साहित्यिक और वैचारिक अ न्दोलन समैय-समय पर जन्म लेते रहे हैं, हमारे साहित्य में उनके प्रभाव भी तत्काल नहीं प्रत्युत कालान्तर में, कुछ देर से पड़ते रहे हैं। जो साहित्यिक एवं वैचारिक आन्दोलन पाश्चात्य जगत में किसी समय उभर कर कब के समाप्त हो चुके हैं, हम देखते हैं कि हमारा साहित्य तथा काव्य आज उनके प्रभावों को सूचित कर रहा है। जबकि आज पाश्चात्य साहित्य वाद-प्रवादों से उठकर एक समतल मार्ग की ओर बढ़ने में प्रयत्नशील

है, हमारा साहित्य पश्चिम के उन पुराने रागों से मुक्ति नहीं पा सका हैं। अत: पश्चिम की वर्तमान कविता और हिन्दी की नई कविता में कोई साम्प्रतिक तारतम्य मुश्किल से ही खोजा जा सकता है। हमारी आज की कविता सच पूछा जाय तो अभी प्रथम और द्वितीय महायुद्धोत्तर पाश्चात्य काव्य के साथ ही अपनी सगति सूचित कर रही है। पाश्चात्य प्रभावों से परे उसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हैं परन्तु अधिकांशत: वह उन पाश्चात्य प्रभावों की अतिरंजना ही सूचित करती है। पाश्चात्य कविता व वर्तमान नये काव्य की संगति और ऐतिहासिक तारतम्य को हम इसी क्रम में देख व समझ सकते हैं। अधिक स्पष्टता से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारे काव्य की प्रयोगवादी धारा (कुछ अंशों में मध्यवर्ती धारा पर भी) पश्चिम के व्यक्तिवाद, प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, फ्रायडवाद, अतियथार्थवाद बिम्बवाद आदि-आदि नाना साहित्यिक एव दार्शनिक वादों का प्रत्यक्ष प्रभाव है और अपने इस रूप में वह भारतीय भूमि की अपेक्षा पाश्चात्य भूमियों से अधिक सम्बद्ध है। इसे उसका सर्वाधिक दुर्बल पक्ष कहा जा सकता है। पश्चिम के अनेक मान्य समीक्षकों की दृष्टि में उपर्युक्त सारे वाद युद्धोत्तर यूरोप के बीमार मस्तिष्क की उपज हैं, जो अपने में किन्हीं स्वस्थ्य प्रतिपत्तियों की सूचना नहीं देते। उनके आधार पर रचे गये पाश्चात्य काव्य में जिस व्यापक अस्वस्थता, अतिवादिता, अनास्था, रूपवादिता तथा एकान्तिकता आदि के दर्शन होते हैं, हमारा प्रयोगवादी काव्य भी किसी न किसी अंश में उन्हें सूचित करता है। इसका प्रधान कारण प्रयोगवादी रचनाकारों की वह प्रवृत्ति है जिसने उन्हें युद्धोत्तर यूरोप की सारी विषमता, जटिलता और अनास्था आदि को पूरी तरह भारतीय परिस्थितियों पर मढ़ देने के लिये बाध्य किया है, जबकि भारत में वैसी स्थिति न तो कभी थी और न आज ही है। युग की मनोदशा पर इस आरोपित यथार्थ का नृत्य सचमुच बड़ा ही अवास्तविक और कृतिम दिखाई देता है। बाहर से ढोये गये विषाक्त वातवरण की छाया

से ग्रस्त हमारे प्रयोगवादी रचनाकारों का मस्तिष्क और उनकी आँखें इसी कारण स्वतन्त्रता के पूर्व व्याप्त और उसके पश्चात उभरने वाली उस नई राष्ट्रीय चेतना को भी नहीं देख सकी हैं जो आज समूचे राष्ट्र को नई दिशाओं की ओर ले जाने में तत्पर है। जबकि हमें आज अपने साहित्य के विचार और वस्तु तत्व का राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप नया संस्कार करना हैं—प्रयोगवादी रचनाकार उस अनास्थामय रागिनी को ही अलाप रहे हैं। स्वत: यूरोप जिसे कब का छोड़ चुका है और उसके अवशेषों को भी मिटा देने के लिये आकुल है नई वस्तु के अनुरूप हमें जिस नये शिल्प की आवश्यकता थी, उस शिल्प के निर्माण की ओर भी बहुत सजग न रह कर, वे पाश्चात्य शिल्प को ही अपनी रचनाओं में पुनर्जीवन देने के लिये चेष्टारत रहे हैं हमारी कविता का श्रंगार वे उन पाश्चात्य प्रसाधनों से करना चाहते हैं जिनकी अनुपयोगिता को पहिचान कर स्वत: पाश्चात्य कविता ने ही जिन्हें वर्षों पहले उतार कर फेंक दिया है। पश्चिम की यह उतरन हमारी कविता की कहाँ तक सौन्दर्यवृद्धि करेगी, कुछ समझ में नहीं आता। वस्तुत: यह स्थिति किसी भी देश के साहित्य के लिये सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती। अन्तर्राष्ट्रीयता की आड़ में यह एक प्रकार की विकृति ही है जिसे किसी भी देश की राष्ट्रीय चेतना स्वीकार करने में अपने को अक्षम पायेगी। हर्ष है कि हमारे प्रयोगवादी रचनाकारों ने स्थिति की गम्भीरता को पहचाना है और उनकी नई रचनायें पूर्व संस्कारों से पूरी तरह असंपृक्त न होने के बावजूद भी नये आदर्शों को अपना रही हैं, अधिक व्यापक भावभूमियों की सूचना दे रही हैं। अज्ञेय जी की इधर की रचनाओं में इस नये प्रत्यावर्तन से दर्शन किये जा सकते हैं, और भारती तथा अन्य कवियों का कृतित्व भी खुली हवा में साँसें लेता प्रतीत हो रहा है।

नयी कविता की इन विविध काव्य-धाराओं के विवेचन के पश्चात् यदि उसके दुर्बल पक्षों को छोड़ दें-तो विश्वासपूर्वक यह कहा जा

सकता है कि नये युग की कविता की कुछ उपलब्धियाँ तो ऐसी अवश्य हैं जो पूर्वयुगीन किसी भी धारा से अपना स्वतन्त्र और मूल्यवान महत्व रखती हैं। कविता का कल्पना के लोक से उतर कर यथार्थ की ठोस भूमि पर आना, युगीन जीवन से सपृक्त हो र सामाजिक प्रगति की सापेक्षता में ही उसके महत्व की प्रतिष्ठा, जन सामान्य तक उसकी पहुंच, एक जनवादी मानवता से उसके सम्बन्धों का जुड़ना, समाज-परकता के साथ-साथ व्यक्तित्व की खोज और उसकी दृढ़ता के साथ उसका योग होना आदि वे बातें जो विचार और वस्तु तत्व में उसे पूर्वयुगीन कविता से आगे की उपलब्धि घोषित करती हैं। शैली और शिल्प के क्षेत्र में भी एक ओर सरलता, सादगी तथा व्यापक जन-वादिता की ओर उसका झुकाव, दूसरी ओर बदलती हुई सौन्दर्य दृष्टि से प्रेरित हो, नये उपकरणों से उसका नया संस्कार, अलंकार, भाषा, छन्द, रूप विधान सभी में एक नवीनता और प्रसार का प्रदर्शन, अपने में कम महत्व का सूचक नहीं। आज की नई कविता को यदि प्रगति-वाद ने स्वस्थ सामाजिक वस्तु और विचारों की नई दिशा प्रदान की है तो प्रयोगवाद ने व्यक्तित्व की रक्षा के प्रश्न को उसकी सारी गम्भीरता में उपस्थित कर अभिनव कला और शिल्प से उसे मण्डित किया है तथा दोनों के समन्वय को लेकर आगे बढ़ने वाली मध्यवर्ती धारा ने उसके भावी स्वरूप की वे रेखायें प्रदान की हैं जो धीरे-धीरे सबके सम्मिलित प्रयत्नों से नई और स्वच्छ आकृति में बदल कर आगामी काव्य-प्रतिमा का प्रतीक बन सकती हैं। इन उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि परम्परा से बिल्कुल कट भी नहीं सकी। नये युग के अनेक कवियों के कृतित्व में छायावादी उपलब्धियों का आलोक भी दिखाई पड़ता रहा है और इसी कारण नई कविता का यह देय महत्वपूर्ण भी बन सका है।

यह सब देखकर ही हम नयी कविता के भविष्य के प्रति आस्थावान हैं। इस नये काव्य का सब से बड़ा महत्व इसी में है कि आज के बौद्धिक युग में जबकि हमारी मान्यतायें क्षण-क्षण बुद्धि और तर्क की कसौटी में कसी जाकर अपना स्वरूप परिवर्तित कर रही हैं, जीवन के मान-मूल्य तेजी से बदलते जा रहे हैं, अणु युग की इस बौद्धिक चेतना का भार ढोते हुए वह जीवित रह सकी है और जटिलताओं के बीच से पथ प्रशस्त कर आगे की ओर बढ़ने में तत्पर भी है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारी कविता इस बौद्धिक युग की अनुरूपता में भी जीवित रह कर भी जनसामान्य की प्रगति को अपना लक्ष्य बना सके, साथ ही सौन्दर्य और कला के स्वस्थ मानदण्डों में भी नये युग की प्रतिनिधि बन सके। इसके लिए आज भी नये रचनाकारों से हम जन-जीवन की समस्याओं में और भी गहराई से प्रवेश करने की माँग करते हैं। आज के पाठक वर्ग से भी हमारा निवेदन है कि वे काव्य को वैयक्तिक मनोरंजन अथवा समय काटने की वस्तु न समझ के उसे अधिक गम्भीरता से ग्रहण करें, उससे वास्तविक तादात्म्य के लिये अपनी रुचि को युगानुरूप और भी परिष्कृत और उदात्त बनावे। आज हमें एक ऐसे महाकाव्य की आवश्यकता है जो एक साथ ही इस समूचे युग के काव्योत्कर्ष का प्रतीक बनकर युग-जीवन के सारे पक्षों का प्रतिनिधित्व भी कर सके, वर्गों की सीमाओं से उठ कर समस्त राष्ट्रीय जीवन को अभिव्यक्त कर सके। कहना न होगा कि नई कविता की सारी उपलब्धियाँ ऐसे महाकाव्य में पुञ्जीभूत होकर ही उसके प्रदेय को स्थिरता और महत्व प्रदान कर सकती हैं।

हमारा नया काव्य आज इस ओर प्रयत्नशील है। समय की गर्द में उसकी दुर्बलताएँ विलीन होती जा रही हैं और उसकी नयी आभा प्रसारित हो जाने को तत्पर है। अतिवादिता आज समतल भूमि पर आने का उपक्रम कर रही है। शिल्प भी परिष्कृत होकर युग जीवन

के अनुरूप बनता जा रहा है। नये मानव-मूल्यों की प्राप्ति की ओर कवियों के कदम सम्मिलित रूप से उठ रहे हैं। हम आशा करते हैं कि इसी प्रकार गतिमान रह कर वह अपने को युग जीवन का संदेश-वाहक बना सकेगी। उस दिन की हमें प्रतीक्षा है।

—शिवकुमार मिश्र

हरिवंशराय 'बच्चन'

●

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

सृष्टि के प्रारम्भ में
मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल-रवि के भाग्य वाले
दीप्त भाल विशाल चूमे,

प्रथम संध्या के अरुण दृग
चूम कर मैंने सुलाए,

तारिका-कलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे,

वायु के रसमय अधर
पहले सके छू ओठ मेरे,
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा !

कह रहा जग वासनामय····· !

आज मिट्टी से घिरा हूँ
पर उमंगें हैं पुरानी,
सोमरस जो पी चुका है
आज उसके हाथ पानी,
होठ प्यालों पर झुके तो
थे विवश इसके लिए वे,

प्यास का व्रत धार बैठा
आज है मन किंतु मानी;
मैं नहीं हूँ देह धर्मों से
बँधा, जग, जान ले तू,
तन विकृत हो जाय लेकिन
मन सदा अविकार मेरा !

कह रहा जग वासनामय·····!

प्राणों से सकें मिल
किस तरह, दीवार है तन,
काल है घड़ियाँ न गिनता
बेड़ियों का शब्द झन-झन,
वेद - लोकाचार प्रहरी
ताकते हर चाल मेरी,

बद्ध इस वातावरण में
क्या करें अभिलाष-यौवन !
अल्पतम इच्छा यहाँ
मेरी बनी बन्दी पड़ी है,

विश्व क्रीड़ा-स्थल नहीं रे
विश्व कारागार मेरा !
कर रहा जग वासनामय····· !

कल छिड़ी, होगी खतम कल
प्रेम की मेरी कहानी,
कौन हूँ मैं, जो रहेगी
विश्व में मेरी निशानी,
क्या किया मैंने नहीं जो
कर चुका संसार अब तक ?
वृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी ?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता,
शत्रु मेरा बन गया है
छल-रहित व्यवहार मेरा !
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा !

*

बीत चली संध्या की बेला !
धुंधली प्रतिपल पड़ने वाली
एक रेख में सिमटी लाली
'कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला !'
बीत चली संध्या की बेला !
नभ में कुछ द्युति हीन सितारे

माँग रहे हैं हाथ पसारे——
'रजनी आए, रवि-किरणों से हमने है दिन भर दुख झेला !
बीत चली संध्या की बेला !
अंतरिक्ष में आकुल आतुर,
कभी इधर उड़ कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक अकेला !
बीत चली संध्या की बेला !

*

जय हो हे संसार तुम्हारी !
जहाँ झुके हम वहाँ तनो तुम,
जहाँ मिटे हम वहाँ बनो तुम,
तुम जीतो उस ठौर जहाँ पर हमने बाजी हारी !
जय हो हे संसार तुम्हारी !
मानव का सच हो सपना सब
हमें चाहिए और न कुछ अब,
याद रहे हमको बस इतना—मानव जाति हमारी !
जय हो हे संसार तुम्हारी !
अनायास निकली यह वाणी,
यह निश्चय होगी कल्याणी,
जग को शुभाशीष देने के हम दुखिया अधिकारी !
जय हो हे संसार तुम्हारी !

*

अब मत मेरा निर्माण करो !
तुमने न बना मुझको पाया,
युग युग बीते, मैं घबराया;
भूलो मेरी विह्वलता को, निज लज्जा का तो ध्यान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !
इस चक्की पर खाते चक्कर
मेरा तन-मन-जीवन जर्जर;
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब हैरान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !
कहने की सीमा होती है,
सहने की सीमा होती है,
कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !

*

व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा !
प्यासी आँखें, भूखी बाहें;
अंग अंग की अगणित चाहें;
और काल के गाल समाता जाता है प्रतिक्षण तन मेरा !
व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा ?
आशाओं का बाग लगा है,
कलि-कुसुमों का भाग जगा है;
पीले पत्तों-सा मुर्झाया जाता है प्रतिपल मन मेरा !

व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा !
क्या न किसी के मन को भाया,
दिल न किसी का बहला पाया,
क्यों मेरे उर के ही अन्दर गूंज उठा उर-क्रन्दन मेरा !
व्यर्थ गया क्या जीवन मेरा !

*

तब रोक न पाया मैं आँसू !
जिसके पीछे पागल होकर
मैं दौड़ा अपने जीवन भर,
जब मृगजल में परिवर्तित हो मुझ पर मेरा अरमान हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू !
जिसमें अपने प्राणों को भर
कर देना चाहा अजर-अमर,
जब विस्मृति के पीछे छिपकर मुझ पर मेरा वह गान हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू !
मेरे पूजन आराधन को,
मेरे संपूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा,
तब रोक न पाया मैं आँसू !

*

जुए के नीचे गर्दन डाल !
देख सामने बोझी गाड़ी,
देख सामने पंथ पहाड़ी,
चाह रहा है दूर भागना, होता है बेहाल !

जूए के नीचे गर्दन डाल !
तेरे पूर्वज भी घबराए,
घबराए, पर क्या बच पाए,
इसमें फँसना ही पड़ता है, है विचित्र यह डाल !
जुए के नीचे गर्दन डाल !
यह गुरु भार उठाना होगा,
इस पथ से ही जाना होगा,
तेरी खुशी-नाखुशी का है नहीं किसी को ख्याल !
जुए के नीचे गर्दन डाल !

*

अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है ?

उठी ऐसी घटा नभ में
छिपे सब चाँद औ तारे,
उठा तूफान वह नभ में
गए बुझ दीप भी सारे;

मगर इस रात में भी लौ
लगाए कौन बैठा है ?

अँधेरी रात में दीपक····· !

गगन में गर्व से उठ-उठ,
गगन में गर्व से घिर घिर,
गरज कहती घटाएं हैं
नहीं होगा उजाला फिर;

मगर चिर ज्योति में निष्ठा
जमाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक····· !

तिमिर के राज का ऐसा
कठिन आतंक छाया है,
उठा जो शीश सकते थे
उन्होंने सिर झुकाया है;
मगर विद्रोह की ज्वाला
लगाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक····· !

प्रलय का सब समाँ बाँधे
प्रलय की रात है छाई,
विनाशक शक्तियों की इस
तिमिर के बीच बन आई,
मगर निर्माण में आशा
लगाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक····· !

प्रभञ्जन, मेघ, दामिनि ने
न क्या तोड़ा, न क्या फोड़ा,
धरा के और नभ के बीच
कुछ साबित नहीं छोड़ा;

मगर विश्वास को अपने
बचाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक····· !

प्रलय की रात में सोचे
प्रणय की बात क्या कोई,
मगर पड़ प्रेम बंधन में
समझ किसने नहीं खोई;
किसी के पंथ में पलकें
बिछाए कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक जलाए कौन बैठा है !

*

सुमुखि, ये अभिसार के पल,
चल करें अभिसार !
काल-सागर में न क्षण-कण
ये कहीं खो जायँ,
आदि होते ही न इनका
अंत भी हो जाय;
समय दुहराता नहीं यह
स्नेह का उपहार;
सुमुखि, ये अभिसार के पल ····· !

भूल थी मेरी कि वादा
कर लिया था और,
एक युग से और था
मेरा तरीका-तौर,

किन्तु युग की भूल का है
एक क्षण प्रतिकार;
सुमुखि, ये अभिसार के पल····· ?
कर सकेंगी मानवों का
जो सदा कल्याण,
विश्व की उन हलचलों को
आयु मेरी दान,
कुछ पलों पर किन्तु एकाकी
मुझे अधिकार;
सुमुखि, ये अभिसार के पल····· !
कल सुधारूँगा हुई
संसार में जो भूल,
कल उठाऊँगा भुजा,
अन्याय के प्रतिकूल;
आज तो कह दो कि मेरा
बंद शयनागार;
सुमुखि, ये अभिसार के पल····· !

*

एक यही अरमान गीत बन, प्रिय तुमको अर्पित हो जाऊँ !
जड़ जग के उपहार सभी हैं,
धार आँसुओं की बिन वाणी,
शब्द नहीं कह पाते तुमसे
मेरे मन की मर्म कहानी,

उर की आग, राग ही केवल
कंठ स्थल में लेकर चलता,

एक यही अरमान····· !

जान समझ मैं तुमको लूंगा—
यह मेरा अभिमान कभी था,
अब अनुभव यह बतलाता है—
मैं कितना नादान कभी था;

योग्य कभी स्वर मेरा होगा
विवश उसे तुम दुहराओगे ?

बहुत यही है अगर तुम्हारे अधरों से परिचित हो जाऊँ !
एक यही अरमान····· !

कितने सपने कितनी आशा,
कितने आयोजन, आकर्षण,
बिखर गया है सबके ऊपर
टुकड़े टुकड़े होकर जीवन

सिर पर सफर खड़ा है लम्बा,
फैला सब सामान पड़ा है,

अंतर्ध्वनि का तार मिले तो एक जगह संचित हो जाऊँ !
एक यही अरमान····· !

नीरवता का सागर तरकर
मैं था जगती तट पर आया,
और यहाँ से कूच करूँगा
उसने फिर जिस रोज बुलाया,

हल्के होकर चलते जिनके
भाव तराने बन जाते हैं,

मैं अपने सब सुख-दुख लेकर एक बार मुखरित हो जाऊँ,
एक यही अरमान गीत बन, प्रिय तुमको अर्पित हो जाऊँ !

अज्ञेय

●

सावन मेघ—

घिर गया नभ उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इंद्र का नील वक्ष—
वज्र सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ सा
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार-
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?
मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र संगत प्रेम क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम सी ।

जब कि सहसा तड़ितके आघात से चिरकर
फूट निकला स्वर्ग का अलोक,
बाध्य देखा—
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य सी निर्लज्ज, नंगी
औ' समर्पित !

*

उषः काल की भव्य शान्ति—
निविडाऽन्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ, अनाहूत
अज्ञात द्युति-किरण—
आसन्न पतन, बिन-जमी ओस की अन्तिम
ईषत्करुण, स्निग्ध, कातर शीतलता
अस्पष्ट किन्तु अनुभूत—
दूर किसी मीनार-क्रोड़ में मुल्ला का
एक-रूप पर अनेक भावोद्दीपक
गंभीऽर आऽह्वान—
'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्नाड'—
निकट गली में

किसी निष्करुण जन से बिन कारण पदाक्रान्त
पिल्ले की करुण रिरियाहट
पार गली के छप्पर तल में
शिशु का तुनक-तुनक कर रोना, मातृ वक्ष को आतुर।
ऊपर
व्याप्त ओर-छोर मुक्त नीलाकाश—
दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
रात रात में नभ का आधा व्यास पार कर
फिर भी नियति-बद्ध अग्रसर।
उषः काल
अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध अचंचल
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—
मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहं-लीन शिशु-भिक्षुक—
और, हाँ, निश्चय,
अपलक-द्युति, अनथक-गति, बद्ध-नियति
जो पार किये जा रहा नील मरु-प्रांगण नभ का।
मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित—
मेरे कारण अवगत-मेरे नेत्र में अस्तित्व प्राप्त!
उषः काल
उषः काल की रहस्यमय
भव्य शान्ति!

*

बावरा अहेरी—

भोर का बावरा अहेरी
फ़ैले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी छोटी चिड़ियाँ
मंझोले परेवे
बड़े बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ने जहाज
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुंओं को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि
रूप रेखा को
और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दंड चिमनियों को, जो
धुँआ यों उगलती हैं मानों उसी मात्र से अहेरी को हरा देगी।
बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :

एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा ?
ले मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे
बावरे अहेरी !

*

भाले की अनी-सी बनी
बगुलों की डार
फुटकियाँ छिटपुट
गोल बाँध डोलतीं
सिहरन उठती है एक देह में ।
कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में
तुम फिर आ गये, क्वाँर ?

*

यह दीप अकेला—

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर

इसको भी पंक्ति को दे दो ।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा ।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो ।
यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग संचय,
यह गोरस: जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इसको भी शक्ति को दे दो ।
यह दीप अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व-भरा, मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो ।
यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा,
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब बाहु, यह चिर-अखण्ड अपनापा
इसको भी भक्ति को दे दो ।
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व-भरा, मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो ।

कलगी बाजरे की—

हरी बिछली घास ।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की ।
अगर मैं तुमको
    ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
    या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई,
    टटकी कली चम्पे की
    वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है ।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं ।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूँच ।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाना है।
मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के :—
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के—
निजी किस सहज, गहरे बोध से,
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ—
अगर मैं यह कहूँ—
    बिछली घास हो तुम

लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की ?
आज हम शहरातियों को
पालतू मालंच पर सँकरी जुही के फूल से
सृष्टि के विस्तार का ऐश्वर्य का—
औदार्य का—
कहीं सच्चा, कहीं प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलगी अकेली
बाजरे की,
और सचमुच, इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है—
और मैं एकान्त होता हूँ
समर्पित ।
शब्द जादू हैं—
मगर क्या यह समर्पण कुछ नहीं है ?

*

नदी के द्वीप—

हम नदी के द्वीप हैं ।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय ।
वह हमें आकार देती है ।

हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।
किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे! बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।
द्वीप हैं हम,
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह वृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है।

नदी, तुम बहती चलो।
भू खण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है'
माँजती, संस्कार देती चलो :
यदि ऐसा कभी हो
तम्हारे आल्हाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—

अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः उसे फिर संस्कार तुम देना।

*

साँप—

साँप!
तुम सभ्य तो हुए नहीं
नगर में बसना
भी तुम्हें नहीं आया।
एक बात पूछूँ—(उत्तर दोगे?)
तब कैसे सीखा डँसना
विष कहाँ पाया?

*

नये कवि के प्रति—

किसी का सत्य था,
मैंने संदर्भ में जोड़ दिया।

कोई मधु-कोष काट लाया था,
मैंने निचोड़ लिया।
किसी की उक्ति में गरिमा थी
मैंने उसे थोड़ा-सा सँवार दिया,
किसी की संवेदना में आग का-सा ताप था
मैंने दूर हटते हटते उसे धिक्कार दिया।
कोई हुनरमन्द था :
मैंने देखा और कहा 'यों' !
थका भारवाही पाया—
घुड़का या कोंच दिया 'क्यों' ?
किसी की पौध थी,
मैंने सींची और बढ़ने पर अपना ली,
किसी की लगाई लता थी,
मैंने दो बल्ली गाड़ उसी पर छवा ली।
किसी की कली थी,
मैंने अनदेखे में बीन ली;
किसी की बात थी
मैंने मुँह से छीन ली।
यों मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ :
काव्य-तत्व की खोज में कहाँ नहीं गया हूँ ?
चाहता हूँ आप मुझे
एक-एक शब्द पर सराहते हुए पढ़ें।
पर प्रतिमा—अरे वह तो
जैसी आपको रुचे आप स्वयं गढ़ें।

धर्मवीर भारती

सृजन की थकन–

सृजन की थकन भूल जा देवता !
अभी तो पड़ी है धरा अनबनी,
अभी तो पलक में नहीं खिल सकी
नवल कल्पना की मृदुल चाँदनी,
अभी अधखिली ज्योत्सना की कली
नहीं जिन्दगी की सुरभि में सनी !
अभी तो पड़ी है धरा अनबनी,
अधूरी धरा पर नहीं है कहीं
अभी स्वर्ग की नींव का भी पता !
सृजन की थकन भूल जा देवता !
रुका तू, गया रुक जगत का सृजन,
तिमिरमय नयन में डगर भूलकर
कहीं खो गई रोशनी की किरन

अलस बादलों में कहीं सो गया
नई सृष्टि का सात-रंगी सपन
रुका तू, गया रुक जगत का सृजन,
अधूरे सृजन से निराशा भला
किसलिये जब अधूरी स्वयं पूर्णता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !
प्रलय से निराशा तुझे हो गई !
सिसकती हुई साँस की जालियों में
सबल प्राण की अर्चना खो गई
थके बाहुओं में अधूरी प्रलय
औ' अधूरी सृजन योजना खो गई
थकन से निराशा तुझे हो गई ?
इसी ध्वंस में मूर्च्छित सी कहीं
पड़ी हो नई जिन्दगी, क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता!

*

फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने

यह फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
ये पागल क्षण,
यह कामकाज दफ्तर-फाइल, उचटा-सा जी
भत्ता वेतन !
ये सब सच हैं !
इनमें से रत्ती भर न किसी से कोई कम,

अन्धी गलियों में पथ भ्रष्टों के गलत कदम
या चन्दा की छाया में भर-भर आने वाली आँखें नम,
बच्चों की-सी दूधिया हँसी या मन की लहरों पर
उतराते हुए कफन !
ये सब सच हैं !
जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्व,
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख-रख कर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है ।
सबने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सबका जीवन है भार, और सब जीते हैं,
बेचैन न हो—
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है,
फिर एक ज्योति मिल जाती है,
जिसके मंजुल प्रकाश में सबके अर्थ नए खुलने लगते,
ये सभी तार बन जाते हैं
कोई अनजान उँगलियाँ इन पर तैर-तैर,
सबमें संगीत जगा देतीं अपने-अपने
गुँथ जातें हैं ये सभी एक मीठी लय में
यह कामकाज, संघर्ष, विरस कड़वी बातें,
ये फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने !
यह दर्द विराट जिन्दगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा फिर तुम पाओगे ताकत
उन अंगुलियों के आगे कर दो माथा नत

जिनके छू लेने भर से फूल सितारे बन जाते हैं ये मन के छाले;
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख-रखकर रोने वाले—
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो !

*

अन्धा-युग—

[स्थापना]

युद्धोपरान्त,
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से ।

—कौरव-नगरी—

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसके दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव न कुछ कम कौरव न कुछ ज्यादा
यह रक्त-पात अब कब समाप्त होना है

क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है ।
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया···द्वापर युग बीत गया ।

*

गान्धारी का शाप—

गान्धारी—[हृदय विदारक स्वर में]
तो, वह पड़ा है कंकाल मेरे पुत्र का
किया है यह सब कुछ कृष्ण
तुमने किया है यह
सुनों !
आज तुम भी सुनो
मैं तपस्विनी गान्धारी
अपने सारे जीवन के पुण्यों का
बल लेकर कहती हूँ
कृष्ण सुनो !
तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह !

मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह
इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को
तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग
यदि मेरी सेवा में बल है
सञ्चित तप में धर्म है
तो सुनो कृष्ण
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे
प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह ।

[बंशी-ध्वनि । कृष्ण की छाया]

कृष्ण ध्वनि—

माता !
प्रभु हूँ या परात्पर

पर पुत्र हूँ तुम्हारा तुम माता हो ।
मैंने अर्जुन से कहा
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योग क्षेम मैं
बहन करूँगा अपने कंधों पर
अठ्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था जो घायल होकर रण भूमि में ।
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद, बनकर बहूँगा मैं
मैं ही युग-युगान्तर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ ।
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है ।

गान्धारी—

यह क्या किया तुमने
[फूटकर रोने लगती है]
रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिये
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है ।

कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुःख होता ।
मैं थी निराश, मैं कटु थी,
पुत्रहीना थी ।

कृष्ण ध्वनि—

ऐसा मत कहो
माता !
जब तक मैं जीवित हूँ
पुत्र हीना नहीं हो तुम ।
प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो ।

कथा-गायन

स्वीकार किया यह शाप कृष्ण ने जिस क्षण से
उस क्षण से ज्योति सितारों की पड़ गई मन्द
युग-युग की सञ्चित मर्यादा निष्प्राण हुई
श्री-हीन हो गये कवियों के सब वर्ण-छन्द
यह शाप सुना सबने पर भय के मारे
माता गान्धारी से कुछ नहीं कहा
पर युग-संध्या की कलुषित छाया जैसा
यह शाप सभी के मन पर टँगा रहा ।

*

पराजित पीढ़ी का गीत

हम सबके दामन में दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।
हम थे सैनिक अपराजेय
पर हम थे बेबस लाचार
यह था कठपुतलों का खेल
ऊपर थी कलई, पर लकड़ी के थे सब हथियार !
हम सबके थे अपने गीत
आखिर तक गाने की शर्त
पर जाने कैसे ऐसे बदले बोल—
हमने गाया कछ, पर कुछ निकला अर्थ !
तुम क्या जानोगे ओ प्रभु !
उसके मन का कटु विक्षोभ
जिसकी निष्ठा के आगे
गर्हित था छोटे से छोटे समझौते का लोभ !
तुमने कब झेली संक्रान्ति
तुम क्या समझोगे ओ प्रभु !
इन गत्यवरोधों का दर्द—
कैसे तरुणाई में ही
घुट मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएँ जम कर हो जाती हैं सर्द !

फिर भी यदि तुमको मंजूर
हमको भटका ओ कुछ और
यदि तुमको फिर भी मंजूर
सच्चाई की बाहों में हम सब पायें मत ठौर;
तो कम से कम करुणामय
इतना तो दो ही वरदान
दो हमको फिर झूठे ही लक्ष्य
दो हमको फिर झूठे युद्धों का झूठा मैदान !
तुम क्या जानोगे ओ प्रभु !
संघर्षों के ही अभ्यासी ये प्राण
हो जाते कितने बेचैन
छिन जाते हमसे जब शस्त्र, छिन जाते ईमान !
दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय
फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय !
हम सबके दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ !
हम सब सैनिक अपराजेय !

*

टूटा पहिया—

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत !
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय !
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ !
मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति !
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले ।

*

सेतु : मैं—

नीचे की घाटी से
ऊपर के शिखरों पर
जिसको जाना था वह चला गया—
हाय मुझी पर पग रख
मेरी बाहों से
इतिहास तुम्हें ले गया !

सुनो कनु सुनो
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिये
लीला भूमि और यूद्ध-क्षेत्र के
अलंघ्य अन्तराल में ।
अब इन सूने शिखरों, मृत्यु-घाटियों में बने
सोने के पतले गुँथे तारों वाले पुल सा
निर्जन
निरर्थक
काँपता सा, यहाँ छूट गया—मेरा यह सेतु-जिस्म
—जिसको जाना था वह चला गया !

गिरिजाकुमार माथुर

रुककर जाती हुई रात—

रुक कर जाती हुई रात का
अन्तिम छाँहों भरा प्रहर है
श्वेत धुंएँ से पतले नभ में
दूर झाँवरे पड़े हुए सोने-से तारे
जगी हुई भारी पलकों से पहरा देते
नींद भरी मन्दी बयार चलती है
वर्षा भीगा नगर
भोर के सपने देख रहा है अब भी
लम्बे-लम्बे धुँधले राजपथों में
निशि भर जली रोशनी की
कुछ थकी उदासी मँडराती है।
पानी रँगे हुए बँगलों के वातायन से
थकी हुई रंगीनी में डूबा प्रकाश अब भी दिख जाता

रेशम पर्दों, सेजों, निद्रा-भरे बन्धनों की छाया-सा।
बुझी रात का अभी अखीरी नहीं उतरा है
दूरी की रेखा-छाहों से पेड़ों ऊपर
ठंडा-ठंडा चांद ठिठक कर मन्दा होता
नभ की लम्बी साया दूरी तक पड़ती है।

*

भीगा दिन—

भीगा दिन पश्चिमी तटों में उतर चुका है,
बादल ढकी रात आती है
धूल भरी दीपक की लौ पर मंदे पग धर,
गीली राहें धीरे-धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझिल पहियों के लम्बे निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसे।
पानी-रँगी दिवालों पर सूने राही की छाया पड़ती
पैरों के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजानी उदास दूरी में।
सील-भरी फुहार डूबी चलती पुरवाई
बिछुड़न की रातों को ठंडी-ठंडी करती
खोए-खोए लुटे हुए खाली कमरे में
गूँज रहीं पिछले रंगीन मिलन की यादें
नींद-भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन
मीठे अधरों की वे धीमी-धीमी बातें।

ओले-सी ठंडी बरसात अकेली जाती
दूर-दूर तक भीगी रात घनी होती है
पथ की म्लान लालटेनों पर
पानी की बूँदें लम्बी लकीर बन चू चलती हैं
जिनके बोझल उजियाले के आस-पास
सिमट-सिमटकर, सूनापन है गहरा पड़ता;
दूर देश का आँसू-धुला उदास वह मुखड़ा—
याद-भरा मन खो जाता है
चलने की दूरी तक आती हुई थकी आहट में मिलकर।

*

विजयादशमी—

आसमान की आदिम छायायों के नीचे,
दक्षिण का वह महासिन्धु अब भी टकराता,
सेतु बन्ध की श्यामल बहती चट्टानों से।
आँखों में, वह अन्तरीय के मन्दिर की चोटी, उठती है,
जिस पर रोज साँझ छा जाते,
युग-युग रंजित, लाल, सुनहले पीले बादल,
एक पुरातन तूफानी सी याद दिलाकर,
जब, अविलम्ब अग्नि-शर-चाप उठाते ही में,
नभ-चुम्बी, काले-पर्वत-सा ज्वार मिटा था।
संस्कृतियों पर संस्कृतियों के महल मिट गए,
लौह नींव पर खड़े हुए गढ़, दुर्ग, मिनारें,

दृढ़ स्तम्भ आधार भंग हो
गिरे, विभिन्न निशान शास्ति के केतन डूबे।
महाकाल के भारी पावों से न मिट सके,
चित्रकूट, किष्किन्धा, नीलगिरि के जंगल
पंचवटी गुँकी थी हुई अलसाई छाँहें,
वाल्मीकि के मृत्युञ्जय स्वर ले अपने पर
सरयू, गोदावरी, नील कृष्णा की धारा,
प्रेत-भरे इस यंत्र-काल में,
आज कोटि-युग की दूरी से यादें आतीं,
शंभु-चाप से अविच्छिन्न इतिहास पुराने,
और वज्र-विद्युत से पूरित अग्नि-नयन वे
जिनमें भस्म हुये लंका-से पाप हजारों।
अब भी विजय मार्ग में वह केतन दिखता है
लौट रहे उस मोर-विनिर्मित कुसुम-यान का,
लम्बे-लम्बे दुख-वियोग की अन्तिम बेला—
सीता के गोरे काँटों से भरे चरण वे,
अग्नि-परिक्षाएँ पग-पग की;
घोर जंगलों, नदियों से जब पार उतर कर,
उन बिछुड़े नयनों का सुखमय मिलन हुआ था।
और चतुर्दश वर्षों पहले का प्रभात वह,
सुमन-सेज जब छोड़ तीन सुकुमार मूर्तियाँ
तर, मंडित, वन-पथ पर चलीं, तपस्वी बनकर,
राग-रंगीली दुनिया में आते ही आते

आसमान की आदिम छायाओं के नीचे
सेतुबन्ध से सिन्धु आज भी टकराता है ।—
पदचिह्नों पर पदचिह्नों के अंक बन गये
कितने स्वर, ध्वनियाँ, कोलाहल डूब गये हैं ।
किन्तु सृजन की और मरण की रेखाओं में
चिर ज्वलन्त निष्कंप एक लौ फिरती जाती,
धरती का तप जिस प्रकाश में पूर्ण हुआ है ।
देश, दिशाएँ, काल, लोक सीमा से आगे,
वह त्रिमूर्ति चलती जाती मन के फूलों पर,
अपने श्यामल गौर चरण से पावन करती
वर्षों, सदियों, युगों-युगों के इतिहासों को ।

*

आग और फूल—

निकलती ही जा रहीं घड़ियाँ सुनहली
आयु के सबसे अधिक उज्वल चरण की
ग्रीष्म के उस फूल सी
जिसकी नई केसर हवा ने सोख ली
बह आगे की पीली शिखा
नीले धुएँ की धारियाँ घेरे रही
जिसके प्रथम आलोक को
सीमांत में जिसके रहे
पर्वत अँधेरे के खड़े
सुनसान की आवाज

आती ही रही नेपथ्य से
जो निगल जाना चाहती थी
जिन्दगी के गीत को

ज्वाला मुखी के द्वीप-सा
संघर्ष का यह लोक है
हिलती हुई धरती यहाँ
हिलते हुए आधार हैं
कमजोर मिट्टी की जड़ें
जमकर न जम पातीं कभ
उठते बगूले दर्द के दुख के यहाँ
हर लहर पर आते नये भूचाल हैं
उजड़ा पड़ा यह द्वीप बिकनी की तर
फिर फिर सदा
संघर्ष का अणुबम यहाँ जाँचा गया
यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मन्थन काल है
संक्रांति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला
बन्दी हुई है देह
मन को बाँधने बढ़ते पतन के हाथ हैं
है फेन विष का फैलता ही जा रहा
अब डूबता अन्तिम ग्रहण की छाँह में
आलोक हत नक्षत्र मिट्टी से बना
जिसका कि पृथ्वी नाम है

बस इसलिए उजड़ी धरा
यह फूल सूखा ही खिला
केसर बिना
वह आग की पीली शिखा
धुँधली रही, मन्दी रही
उज्वल न पूरी परिधि को जो कर सकी
वह भस्म कर पाई नहीं
नीले धुएँ को व्योम से
वह भूमि किन्तु न मिट सकी
आगत फसल की राह में
वह फूल मुरझाया नहीं
ऋतु रंग लाने के अमर विश्वास में
वह आग की पीली-शिखा
उठती रही जलती रही
आलोक कन तम से बचा
वह अग्नि बीजों को सतत बोती रही
फिर से नया सूरज उगाने के लिये ।

*

उजला पाख क्वाँर का फूला कास सा
खिली चाँदनी रात कि कली सुहावनी
नरम नखूनी रंग धुले आकाश में
छिटक रही है पूरनमा की चाँदनी

उड़ती भीनी गन्ध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुन्तल कामिनी
खुली ओस में बिछी दूधिया सेज सी
पानी सी ठंडी है ऋतु मनभावनी

आसमान में भरा श्वेत रस सोम का
नयनों में मदभरी ललोंई झूलती
हिम के मृग भर रहे चौकड़ी चाँद में
नवल नारि सी अलस केतकी फूलती

उभरे रोएँ छुवा गई है चाँदनी
सींग नुकीले चुभा गई है चाँदनीं
चञ्चल नयनी गोरी हिरनी चाँदनी।

*

नींव रखने वालों का गीत--

माथे पर न रक्खो हाथ
जरा कुछ और तपने दो
आँखों में न पलकों की उतारों रात
श्रमजा नींद के अंकूर पनपने दो
हुई हैं लाल आँखें
इन्हें थोड़ा और जलने दो
सहज का सुख नहीं मंजूर
छोटी तृप्तियाँबेकार
उठे जब तक न मिट्टी से नया संसार
तुरत की चैन रंगीनी सभी निस्सार

मिलाना खींच छोटी डोर के दो छोर
लगाना गाँठ मुश्किल है
किसी की पहिन कर उतरन
समझना पा लिया त्रिभुवन
मुलम्मा, भुलावा, छल है
असल सुख के लिए मेहनत
पसीने से बनेगा पथ

थकन है खींचने की
इसलिए छुट जायगा क्या
राह ही में सूर्य निर्मित रथ
इसी से जिन्दगी की तिक्त
कड़वी कटीली अनुभूति
मन में और पचने दो
हमारे दर्द, सुख संघर्ष की
मजबूत छाती पर
नई पीढ़ी सँवरने दो।

*

हेमन्ती पूनों—

चाँद हेमन्ती
हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली
चाँदनी-डूबी हवा सुधि-गंध लाती

याद के हिम वक्ष से आँचल उड़ाती
चाँद के जब गोल बीसों आइनों में
मोम की सित मूर्ति-सी गत आयु आती
हर निशा तब
पूर्णिमा बनती सजीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली
आज जीवन-चाँदनी रूठी हुई है
आयु छबि शतखण्ड है टूटी हुई है
जिन्दगी के चाँद का ठहराव कम है
आइनों की पाँत यों फूटी हुई है
पूर्णिमा भी इसलिये
लगती मटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली
आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल
कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल
उड़े उजली धूल बन कर चाँदनी भी
आबनूसी मूर्ति-सी हो आयु उज्वल
इसलिये हेमंत की
यह मन्द ठिठुरन
तन-छुवन से
उष्म तुम कर दो, रसीली ।

रामविलास शर्मा

●

कतकी—

पिछला पहर रात का, पर आकाश में
छिटकी है अब भी चौदस की चाँदनी,
बिना वृक्ष झाड़ी के घेरे क्षितिज को,
ऊसर ही ऊसर कोसों फैला हुआ।
चला गया है उसे चीरता बीच से
गहरे कई खुढ़ों का गलियारा बड़ा,
कतकी का ढर्रा, जिस पर हैं जा रहीं
घुँघरू की ध्वनि करतीं इस सुनसान में
पाँति बाँधकर धीरे-धीरे लाढ़ियाँ।
उड़ते पीछे उजले बादल धूल के।
तने हुए तम्बू भीतर पैरा बिछा
सुखी बाल-बच्चे बैठे हैं ऊँघते,
गरम रजाई में निश्चिन्त किसान भी
बैठा बैलों की पगही ढीली किए।

घुँघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे
फटी-पुरानी झूलें ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं, पहले भी गये।
स्वप्न देखते धीरे-धीरे जा रहे,
सकरघटी कर पार, जहाँ लहरा रही
सर्सर् करती गंगा की धारा, वहाँ
रंग-बिरंगा कोलाहल करता बड़ा,
बालू पर मेला है एक जुड़ा हुआ।

*

कार्य क्षेत्र—

धरती के पुत्र की,
होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म ?
धूलि भरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को,
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर संसर्ग में।
धरती के पुत्र के,
कितने ही मत और धर्म और जातियाँ हैं,
एकरस मटीलेपन में
छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्व की।
रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की,
सदियों के पुरातन मृत संस्कारों की,
चिन्हित हैं प्रेत-रूप छायाएँ मटीले मुँह पर।

असंस्कृत भूमि ये किसान की,
जोतनी है गहरी दो-चार-बार, दस बार,
बोना महातिक्त वहाँ बीज असंतोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।

*

कंकाल—

कंकाल

हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन कंकाल;
मांसल बलिष्ठ नहीं भुजाएँ,रक्ताभा नहीं हैं कपोलों पर,
परतंत्र देश के युवक हैं।
कहाँ है जीवन ? कहाँ है चिरन्तन आत्मा ?
हड्डियों का संघर्षण जीवन है,
हड्डियों में बसा हुआ ताप ही,
आत्मा है
युग के ये नर कंकाल,
हड्डियों के ताप से अशान्त हैं।
गालों की सूखी हुई हड्डियों में,
धँसी हुई आँखों की पुतलियों में,
बसी है भावना विद्रोह की।
बढ़ते हैं नर कंकाल, नवयुवक
खड़ी जहाँ सेना परतन्त्रता की, मृत्यु की,
भूख की, दुसह अपमान, अत्याचार की।

काली-काली भीम मूर्ति छायाएँ,
छायाएँ,
विजय नहीं पायेंगी,
जीवित हैं हम नर कंकाल !
जलती है ज्वाला एक हड्डियों के ढाँचे में ।
फैलाकर लम्बी सूखी उँगलियों को,
छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को,
—निर्मोह युद्ध में,—
नर-मांसाहारी इन मृत्यु की वीभत्स छायाओं को ।
मुक्ति देंगे जीवन को मृत्यु के पाश से,
जन्म होगा हड्डियों के ढाचों से
रक्ताभ मांसल शरीर का,
हड्डियों में बसे हुए ताप से,
चिरन्तन आत्मा का
जन्म होगा नर ककालों से,
सबल-स्वतन्त्र नवयुवकों की सेना का ।

*

कलियुग—

सतयुग, त्रेता, फिर द्वापर औ कलियुग,
अन्तिम हमारा युग ।
निंदित पुराणों में, शास्त्रों में, काव्यों में,
अवाँछित आदि युग से यह अधम युग ।
सतयुग, त्रेता, औ' द्वापर के कृमि-कीट
विकसित हुए जब विषैले युग में,

महामान्य पूर्वजों, महर्षियों, सम्राटों की,
वासना की बूँदें वे,
बढ़कर बनीं आज गम्भीर जल-राशि,—
विषाक्त, कर्दममय जलराशि !
युग-युग निंदित अधम यह कलियुग,
यही है हमारा युग ।
चेतना की किरणें सिमट कर एक साथ
छिन्न करने को जड़ जल-स्तर सक्रिय सचेष्ट हैं,
नष्ट करने को सतयुग ही के पुरातन कृमि-कीट ।
विशाल सक्रियता
यही है हमारा युग ।
विषाक्त जलधि के हृदय में,
फूट कर धीरे-धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह,
खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर,
नव अरुणाभा में,—नव सतयुग के प्रकाश में ।

*

वैसवाड़ा—

एक घनी अमराई सा यह
हृदय अवध का
जहाँ सतत बहती है गंगा,
कोयल और पपीहे के स्वर से मुखरित है ।
चाँदी-सी नम उर्वर धरती,
सई, लोन नदियों के जल से भीज गई है ।

खेतों में सनयी, गोहवा, सरसों की शोभा
तालों में खिलती है सुन्दर कोकाबेली ।
दुनियाँ में अनुपम हैं यहाँ शरद की साँझें ।
टूटे मन्दिर, लोटों में भर फूल पूजने जाती हैं बहुएँ, कुमारियाँ ।
धरती के पत्तों के नीचे
सीझ गया है यहाँ परम पावन गंगा-जल ।
इस धरती पर जो अठवासे श्रम करते हैं,
उनके तन के पत्तों में अब सूख गया है
रक्त, रेत पर जमी हुई जल की बूँदों सा ।
जमीदार के जन हैं सब कोरी चमार,
करते हैं जो नित ही बेगार,
सीला भर है जिनका पगार ।
ये छोटे-छोटे खेत और बाबा-आदम के हल-माँची;
इन कच्चे कुओं, चुहों से होती पुरहाई ।
धरती की छीना-झपटी से,
जाते हैं परदेस कमाने पूत किसी के ।
कानपूर में मजदूरी, बेकारी
या फिर कलकत्ते में,
कपड़ों की फेरी करते हैं ।
धरती के मालिक हैं सब गद्दार गदर के—
जमींदार, ताल्लुकेदार--
सुन्दर शरीर पर कुष्ट रोग से ।

आज अवध के जन गीतों में,

सुन पड़ते हैं आजादी के नये तराने ।
कोयल और पपीहा के स्वर में घुल मिल कर
सुन पड़ती है दूर-दूर आवाज नयी यह
इंकलाब की आजादी की ।
गंगा की उर्वर धरती में
निर्धन जनता ने गाड़ा है अपनी आजादी का झंडा ।
एक दिशा में उठते हैं अब
लाखों कदम धूल माटी में सने हुए सब एक साथ ही ।
आजादी की सरिता में कितनी भँवरे हैं ?
पर अदम्य अंतर्धारा सी,
इस धरती पर बहती है पावन जन-गंगा ।

*

और भी ऊँचा उठे झंडा हमारा—

दासता के प्रलय पारावार से फिर
यह हमारा विश्व ऊपर उठ रहा है ।
देवता की कल्पना सुन्दर उँगलियों पर न उठकर
यह करोड़ों कामकाजी बाहुओं पर
युगों और शताब्दियों के बाद ऊपर उठ रहा है ।
वेदापाठी ऋत्विजों ने
पर्वतों को फोड़कर बहते नदी-नद-निर्झरों का स्वर सुना था
सूफियों ने, संत कवियों ने यहाँ
जन-एकता के गीत-गाये ।
फिर उन्हीं स्वर की लहरियों पर हमारा

देश ऊपर उठ रहा है ।
दुर्ग टूटे, रक्त रंजित क्षेत्र विप्लव युद्ध के
यह कह रहे हैं,—
रक्त कितना बह चुका है,
घमासानों में न जाने
अगम कितने व्यूह खण्डित हो चुके हैं ।
आज प्लासी के, असाई के, विकट गुजरानवाला के पुराने,
ध्वस्त झंडे युद्ध के सोये हुए मैदान से फिर,
गर्व से युग की नयी संतान को—इस
नये झण्डे को—पुलक भर देखते हैं ।
देखते हैं चक्र को—भारत नियति के चक्र को,
इतिहास के दुर्गम विपथ वनखण्ड में भी,
आज तक जिसको घुमाती ही रही हैं
अमर भारत की सनातन पीढ़ियाँ नव शक्तिशाली
नयी संस्कृति की पताका
गत युगों के ध्वंस पर लहरा रही है ।
ध्वंस पर लहरा रही है,
देखकर उज्वल भविष्यत्
गर्व से मुसका रही है ।
यह भविष्यत् स्वप्न कितनी पुतलियों में,
कठिन कारावास निर्वासन अवधि के,
यातना, अपमान के दुःसह क्षणों में,
मृत्यु का पथ देखते फाँसी घरों में,

अग्नि-सा यह स्वप्न कितनी पुतलियों में,
जल चुका है
दूर बर्मा के वनों में,
बम्बई के सिन्धु की चञ्चल तरंगों पर कभी जो,
अग्नि के गोलों, धुएँ की ओट में यह
निडर काली पुतलियों में,
प्राण-बाती-सा अकम्पित जल चुका है।
जल चुकी हैं बेड़ियाँ, संगीन, किर्चें,
दूर कारावास के यह शक्ति किसमें
बन्द रक्खे सैनिकों को—
सन बयालिस के तरुण बलिदानियों को,
फौजियों, जन-सैन्य के बिद्रोहियों को,
या नई जन-क्रान्ति के सेनानियों को,
शूरता जिनकी अनी-सी बेधती है
आज भी आतंक खाये फिरंगी के मर्म को।
बन्दियों के,
एकता स्वाधीनता के गायकों के
और भारत की अमर-जन-शक्ति के जो
छीनकर इतिहास के निर्मम करों से
यह दिवस, निज शक्ति-परिचय दे चुकी है,
वीर-गति पाये शहीदों के नये सम्मान में फिर,
और भी ऊँचा उठे झंडा हमारा।
और भी ऊँचा उठे फहरे समूचे देश पर यह,

खेत-खलिहानों, मिलों पर झूमता हो,
कह रहा हो—
ये तुम्हारे खेत हैं; —अब
अन्न दो, भूखा न कोई देश में हो।
वस्त्र दो, फिर
लाज ढँकने के लिये बहनें हमारी,
राह में अब हाथ फैलायें न जाकर।
यह नया सन्देश दे झण्डा हमारा।
और भी ऊँचा उठे, फहरे समूचे देश पर वह
लड़खड़ाते राज सिंहासन,
चटक कर टूटते सामंतशाही दुर्ग पर, नित
गर्व से विजयी उड़े झंडा हमारा।
और भी ऊँचा उड़े, झंडा हमारा।
और भी ऊँचा उठे, ढाढ़स बँधायें,
हिन्द सागर में जहाँ डच दस्युओं से,
जूझते, हैं वीर हिन्दी-एशिया के,
फ्रान्सीसी धनकुबेरों की भयानक यातना से
जूझते हैं हिन्द-चीनी,
याद करते हैं कभी जो हिन्द की सन्तान को दुर्दम समर में।

और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा,
विश्व को सन्देश दे—जनता अमर है।
खो गये इतिहास की रज में कहीं वे आततायी,
एशिया-यूरोप विजेता, रक्त में जो

अमरता को खोजते थे ।
किन्तु कितने युगों और शताब्दियों के
मरुस्थल, वन-पर्वतों को पार करती
अमर जन-भागीरथी यह
बह रही है और बहती ही रहेगी ।
विश्व की प्राचीनतम् भागीरथी के,
हिन्द जनता की प्रखरतम
वेग से बहती हुई भागीरथी के
इस नये सम्मान में फिर
और भी ऊँचा उठे झण्डा हमारा ।

नागार्जुन

●

परिचय—

लेखनी ही है हमारा फार
धरा है पट, सिन्धु है मसिपात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
कहानी, काव्य, रूपक, गीत !

*

सिंदूर-तिलकित भाल—

घोर निर्जन में परिस्थितियों ने दिया है डाल !
याद आता तुम्हारा सिंदूर-तिलकित भाल !
कौन है वह व्यक्ति जिसको चाहिए न समाज ?
कौन है वह एक जिसको नहीं पड़ता दूसरे से काज ?
चाहिए किसको नहीं सहयोग ?
चाहिये किसको नहीं सहवास ?
कौन चाहेगा कि उसका शून्य में टकराय यह उच्छ्वास ?

हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण
जिसको डाल दे कोई कहीं भी
करेगा वह कभी कुछ न विरोध
करेगा वह कभी नहीं अनुरोध
वेदना ही नहीं उसके पास
फिर उठेगा कहाँ से निःश्वास
मैं न साधारण, सचेतन जन्तु
यहाँ हाँ—ना—किन्तु और परन्तु
यहाँ हर्ष-विषाद-चिन्ता-क्रोध
यहाँ है सुख दुःख का अवबोध
यहाँ हैं प्रत्यक्ष औ' अनुमान
यहाँ स्मृति-विस्मृति के सभी के स्थान
तभी तो तुम याद आतीं प्राण
हो गया हूँ मैं नहीं पाषाण !
याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भींगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहंगम की कभी थकने न देती पाँख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आतीं लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य श्यामल जनपदों के

रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
याद आते वेणुवन वे नीलिमा के निलय अति अभिराम

धन्य वे जिनके मृदुलतम अंक
हुए थे मेरे लिए पर्यंक
धन्य वे जिनकी उपज के भाग
अन्न-पानी और भाजी-साग
फूल फल औ' कंद-मूल, अनेक विध मधु-मांस
विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दशमांश
ओह, यद्यपि पड़ गया हूँ दूर उनसे आज
हृदय से पर आ रही आवाज—
धन्य वे जन—वही धन्य-समाज
यहाँ भी तो हूँ न मैं असहाय
यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय
किन्तु जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेंगे हाय ।
मरूगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
समय चलता जायगा निर्बाध अपनी चाल
सुनोगी तुम तो उठेगी हूक
मैं रहूँगा सामने (तसवीर में) पर मूक
सांध्य नभ में पश्चिमांत समान
लालिमा का जब करुण आख्यान
सुना करता हूँ, सुमुखि उस काल
याद आता तुम्हारा सिंदूर-तिलकित भाल

*

तर्पण—

जिस बर्बर ने
कल किया तुम्हारा खून पिता
वह नहीं मूर्ख या पागल है
वह नहीं मराठा हिन्दू है
वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का
वह जागरूक वह सावधान
वह मानवता का महाशत्रु
वह हिरणकशिपु
वह अहिरावण
वह दशकन्धर
वह सहसबाहु
वह मनुष्यत्व के पूर्ण चंद्र का सर्वग्रासी महाराहु
हम समझ गये
चट से निकाल पिस्तौल
तुम्हारे ऊपर कल
वह दाग गया गोलियाँ कौन !
हे परमपिता ! हे महामौन !
हे महाप्राण, किसने तेरी अन्तिम सांसें
बरबस छीनीं भारत-मां से
हम समझ गये !
जो कहते हैं उसको पागल
वह झोंक रहे हैं धूल हमारी आँखों में

वह नहीं चाहते परम क्षुब्ध जनता घर से बाहर निकले
हो जायँ ध्वस्त
इन सम्प्रदायवादी दैत्यों के विकट खोह
वह नहीं चाहते; पिता, तुम्हारा श्राद्ध ओह !
भूखे रह कर
गंगा में घुटने भर धँसकर
हे वृद्ध पितामह
तिल-जल से
तर्पण करके
हम तुम्हें नहीं ठग सकते हैं
यह अपने को ठगना होगा
शैतान आयगा रह रह हमको भरमाने
अब खाल ओढ़ कर तेरी सत्य अहिंसा का
एकता और मानवता के
इन महाशत्रुओं की न दाल गलने देंगे
हम नहीं एक चलने देंगे
यह शांति और समता की तेरी दीपशिखा
बुझने न पायगी क्षण भर भी
परिणत होगी आलोक स्तम्भ में कल-परसों
मैदानों के काँटें चुन-चुन
पथ के रोड़ों को हटा-हटा
तेरे उन अगणित स्वप्नों को
हम रूप और आकृति देंगे

हम कोटि-कोटि
तेरी औरस संतान, पिता

*

बादल को घिरते देखा है—

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है
छोटे-छोटे मोती-जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।
तुंग हिमालय के कंधों पर
छोटी बड़ी कई झीलें हैं
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिस-तंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।
ऋतु बसंत का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल बह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं

अगल-बगल स्वर्णाभ शिखर थे
एक दूसरे से विरहित हो
अलग अलग रह कर ही जिनको
सारी रात बितानी होती
निशाकाल के चिर-अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का
बंद हुआ क्रंदन, फिर उनमें
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर
प्रणय-कलह छिड़ते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत-सहस्त्र फुट ऊँचाई पर
अलख नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल—
के पीछे धावित हो होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

शत-शत निर्झर-निर्झरिणी कल
मुखरित देवदारु कानन में
शोणित-धवल भोज पत्रों से

छाई हुई कुटी के भीतर
रंग बिरंगे और सुगंधित
फूलों से कुंतल को साजे
इंद्रनील की माला डाले
शंख सरीखे सुघड़ गलों में
कानों में कुवलय लटकाये
शतदल लाल कमल वेणी में
रजत-रचित मणि-खचित कलामय
पान पात्र द्राक्षासव पूरित
रखे सामने अपने-अपने
लोहित चंदन की त्रिपदी पर
नरम निदाग बाल-कस्तूरी-
मृगछालों पर पल्थी मारे
मदिरारुण आँखों वाले उन
उन्मद किन्नर किन्नरियों की
मृदुल मनोरम अंगुलियों को
बंशी पर फिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है ।

*

माँजो, और माँजो—

नहीं नहीं, अभी नहीं
अभी तो सिरिफ श्री गणेश है
अपने पदों को बार बार माँजो

माँजो और माँजो, माँजते जाओ
लय करो ठीक, फिर फिर गुनगुनाओ
मत करो पर्वाह—क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे
चुस्त हो सेन्टेन्स, दुरुस्त हो कड़ियाँ
पकें इतमीनान से गीत की बड़ियाँ
ऐसे जल्दी भी क्या है ?
उस्ताद पुराना, भले शागिर्द नया है ।
नैतिक-अनैतिक, सामाजिक-असामाजिक
भला या बुरा कुछ भी क्यों न हो
तलकर घोलकर बघारकर कहो
वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार
ध्वनि और व्यंग्य पर मरता है संसार
वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान
तर्ज और तरन्नुम है शायरी की जान
एक-एक शब्द है दुधारू गाय
उसका दुरुपयोग करना न हाय
हाय रे दैव ! हाय भगवान !
शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान !
ध्वनि ही ध्वनि देते, देते मात्र लय तान
भावों की दलदल में आकंठमग्न काव्य कला
त्राहि त्राहि कर रही उद्धार करो उसका

*

प्रेत का बयान —

"ओ रे प्रेत'—
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
'सच सच बतला !
कैसे मरा तू ?
भूख से, अकाल से ?
बुखार, कालाजार से ?
पेचिश, बदहजमी, प्लेग, महामारी से ?
कैसे मरा तू, सच सच बतला !"
खड़ खड़ खड़ खड़ हड़ हड़ हड़ हड़
काँपा कुछ हाड़ों का मानवीय ढाँचा
नचा कर लम्बी चमचों-सा पंचगुरा हाथ
रूखी-पतली किट-किट आवाज में
प्रेत ने जवाब दिया :
महाराज !
सच सच कहूँगा
झूठ नहीं बोलूँगा
अब हम गुलाम नहीं
नागरिक हैं हम स्वाधीन भारत के
पूर्णिया जिला है सूबा बिहार के सिवान पर
थाना धमदाहा
बस्ती रूपउली
जात का कायथ

उमर कुछ अधिक पचपन साल की
पेशा से प्रायमरी स्कूल का मास्टर था
तनखा थी तीस रुपैया, सो भी नहीं मिली
मुश्किल से काटे हैं
एक नहीं दो नहीं नौ नौ महीने
घरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार
आ चुके हैं वे भी दयासागर, करुणा के अवतार !
आप ही की छाया में
मैं ही बाकी
क्योंकि करमों की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थीं
हमारे अपने पुश्तैनी पोखर में
मनोबल शेष था सूखे शरीर में···
अरे वाह···
भभा कर हँस पड़ा नरक का राजा
दमक उठीं झालरें कम्पमान सिर के मुकुट की
फर्श पर ठोककर सुनहला लौह दंड
अविश्वास की हँसी हँसा दंडपाणि महाकाल
बड़े अच्छे मास्टर हो !
आये हो मुझको भी पढ़ाने ! !
मैं भी बच्चा हूँ···
वाह भई वाह !
तो तुम भूख से नहीं मरे ?

हद से ज्यादा डाल कर जोर
होकर कठोर
प्रेत फिर बोला—
अचरज की बात है
यकीन नहीं करते आप क्यों मेरा
कीजिये न कीजिये न आप चाहे विश्वास
साक्षी है धरती, साक्षी है आकाश
और और और और और भले
नाना प्रकार की ब्याधियाँ हों भारत में
किन्तु—
उठा कर दोनों बाँह
किट किट करने लगा प्रेत
—किन्तु
भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी ब्याधि का पता नहीं हमको
सावधान महाराज,
नाम नहीं लीजियेगा
हमारे समक्ष फिर कभी भूख का !!
निकल गया भाफ आवेश का
तदन्तर शांत-स्तिमित स्वर में प्रेत बोला
जहाँ तक मेरा अपना सम्बंध है
सुनिये महाराज,
तनिक भी पीर नहीं
दुख नहीं, दुविधा नहीं

सरलता पूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला ··
सुनकर दहाड़
स्वाधीन भारतीय प्राइमरी स्कूल के
भुखमरे स्वाभिमानी सुशिक्षक प्रेत की
रह गये निरुत्तर
महामहिम नरकेश्वर ।

शम्भूनाथ सिंह

स्वप्न और सत्य--

स्वप्न की रात है, सत्य का प्रात क्षण !
हासमय गान हैं,
मुग्ध मुसकान हैं,
भीगते जा रहे
किन्तु मन प्राण हैं,
प्राण, मैं स्नेह-सर का कुमुद हूँ, मुझे
हासमय नींद है, अश्रुमय जागरण !
रंगमय कल्पना,
ज्योतिमय अर्चना,
छल रही प्राण को
पर जलन-साधना,
प्रिय, मिलन-रात का दीप मैं हूँ, मुझे
है सुधामय तिमिर, है गरलमय किरण !

चाँदनी पास है,
तृप्त हर साँस है,
बढ़ गई किन्तु
अनजान में प्यास है,
प्राण के सिन्धु का ज्वार मैं हूँ मुझे
शूलमय है धरा, फूलमय है गगन !
आँकता रंग भर
मैं तुम्हें प्राण पर,
अश्रु में किन्तु ये
चित्र जाते बिखर,
दूर तुमसे हुआ यक्ष मैं हूँ, मुझे
शापमय याद, वरदानमय विस्मरण,
स्वप्न की रात है, सत्य के प्रात क्षण !

*

भर गया सजल घन से नभ का सूना आँगन,
सूने नयनों में उमड़ पड़े दो भरे नयन !
काली-काली बरखा की रात घुमड़ आई,
सन्देश-वहन करती-सी आई पुरवाई ।
भूले प्राणों में बरस गया सुधि का सावन,
खोये नयनों में झलक पड़े दो बड़े नयन !
बिजली बन चमके चपल चरण दो रागारुण,
रिमझिम बूँदों में बरस पड़ी पायल रुनझुन ।

सुधि की साँसों से भीग उठा जलता जीवन,
प्यासे नयनों में बरस पड़े जल-भरे नयन ।
बह चले पवन धारा में घन श्यामल-श्यामल,
लहराये मन में फिर काले काले कुन्तल ।
मृत मन को जिला गया सुधि का विषमय दंशन,
रीते नयनों में ढुलक पड़े मधु-भरे नयन !
दिशि-दिशि से उमड़ पड़ीं तम-बेसुध लहरें,
भर गये व्यथा के चित्र विवश मन में गहरे ।
घुल गया हृदय के कण-कण में सुधि का अंजन !
बन्दी नयनों में बन्द हुये दो खुले नयन !

*

किसे भूल जाऊँ, किसे प्यार कर लूँ ?
मदिर मधु-किरण है,
मदिर स्वर्ण-घन है,
मदिर कम न गृह-दीप
की पर शरण है,
किसे स्वप्न के इन्द्र-धनु-सा मिटा दूँ
समझ सत्य लौ चूम किसके अधर लूँ ?
अमर साधना-घन,
अमर प्यास के क्षण,
अमर पर न क्या
तृप्ति का एक ही कण ?
किसे अर्चना की सुरभि-सा उड़ा दूँ
किसे सिद्धि-चंदन समझ भाल पर लूँ ?

मधुर अश्रु-बंधन,
मधुर मौन-क्रन्दन,
मधुर पर न क्या
मंद मुस्कान दँशन ?
नयन धार में प्यास किसकी बहा दूँ
तृषित बाहु में बाँध किसकी लहर लूँ ?
अमिट है क्षितिज पर
रजत-रात का स्वर,
अमिट प्रान का भी
कनक-गान सुन्दर,
किसे शापमय रागिनी-सा भुला दूँ
किसे मान वरदान-स्वर प्राण पर लूँ ?
किसे भूल जाऊँ, किसे प्यार कर लूँ ?

*

थी पार्वती धरती जलती तप से निर्जल,
था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा-झंकृत अनंग-धनु से शर छूट पड़े,
बन पंच-बाण के पुष्प बरसते थे बादल !
क्षण भर घाटी की भँवरों में कर आवर्तन,
क्षण भर शिखरों के उपलों का कर आलिंगन,
इस महाशून्य की डाली से झर-झर शाश्वत
बह रहे पवन की धारा में ये मेघ-सुमन,
क्षण बन दुकूल श्रृंगों का, क्षण परियों का पर,

बन देवदारु का वलय, बनों के बीच बिखर
अधखुले नयन-नभ में तिर-तिर बनते मिटते
ये काम-रूप-धन दिवा-स्वप्न के फूल सुधर !
किसने फैलाया यह हरीतिमा का दुकूल
बँध पा न रहे जिनमें पारद के जलद फूल !

*

मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !
बीते यह गहन रात
अब न बहे व्यथा-वात
झुलसे जीवन-वन में
लहराये मधुर प्रात,
रह न जाय बीती निशि का बन्धन कोई !
किरण उठे नींद त्याग
कुंज कुंज उठे जाग,
तरु-तृण कण-कण में भर
जाये वह मधुर राग,
रह न जाय प्यास विकल बेसुध तन कोई !
सौरभ ले बहे पवन
उड़ें विहग ले जीवन,
कलिका-उर में स्पंदन
भरदे अलि का गुंजन,
रह न जाय गति-लय से रहित चरण कोई !
मुसकायें नयन-कमल,
खुल जायें उर के दल,

लहराये जीवन, हट
जायें तम के बादल
गायक ! भू पर उतार स्वर्ण-किरण कोई
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

*

पगडंडी—

छिप-छिप कर चलती पगडंडी धन-खेतों की छाव में !
अनगाये कुछ गीत गूँजते
हैं किरनों के हास में,
अकुलाई सी एक बुलाहट
पुरवा की हर साँस में !
सूनापन है उसे छेड़ता छूँ आँचल के छोर को,
जल खाते भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव में ।
अंग-अंग में लचक उठी ज्यों
तरुणाई की भोर में,
नभ के सपनों की छाया को
आँज नयन की कोर में !
राह बनाती अपनी कुस-काँटों में, संख-सिवार में,
काँदो-कीच पड़े रह जाते, लिपट-लिपट कर पाँव में !
पाँतर पाँत धुँवारी भौंहों
की ज्यों चढ़ी कमान है,
मार रहा यह कौन अहेरी
सधे किरन के बान है ?

रोम-रोम ज्यों बिंधे तीर, टूटी सीमा मरजाद की;
सुध बुध खो चल पड़ी अकेली अपने पीके गाँव में !

रुन झुन बिछिया झींगुर वाली
किंकिन ज्यों बक-पाँत है,
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात है !

पहरू से कुछ पीली कलँगी वाले पेड़ बबूल के
बरज रहे री पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाँव में ।
अपनाही आँगन क्या कम जो चली पराए गांव में ।

*

समय की शिला—

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
कसी ने बनाये किसी ने मिटाये !

किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के
गई घुल जवानी, गई मिट निशानी !
विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये, गगन ने गिराये ।
शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना
किसी को लगा यह मरण का बहाना
शलभ जल न पाया, शलभ मिट न पाया
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना !

प्रणय-पंथ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये, विरह ने बुझाये !

जलधि ने गगन चित्र खींचे नयन में
उतरती हुई उर्वशी देख घन में
अचल किन्तु चल-चित्र ये हो न पाये
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति क्षण में !
जलद-पत्र पर इन्द्र-धनु रंग कितने
किरण ने सजाये, पवन ने उड़ाये !

भटकती हुई राह में वंचना की
रुकी श्रान्त हो जब लहर चेतना की
तिमिर आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी शृंखला साधना की !
नयन-प्राण में रूप के स्वप्न कितने
निशा ने जगाये उषा ने सुलाये !

सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा
उड़ी, वन्दना की जगी सुप्त आशा
तुहिन-बिन्दु बनकर शिखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा !
किसी के चरण पर वरण फूल कितने
लता ने चढ़ाये, लहर ने बहाये !

*

आज स्वर के दीप का लघु दान मेरे देवता लो !
मैं तिमिर बन्दी विजन में
चाहता आना शरण में
आरती के दीप अपने—
भेजता तुम तक गगन में
बन्धनों में मुक्ति के ये गान मेरे देवता लो !
बह रहे ये ज्योति के स्वर
शून्य में तम की लहर पर
जल रहे ये साध के वर
प्यास का अभिशाप लेकर
तिमिर-सर में ज्योति के जलयान मेरे देवता लो !
आँधियों में ये पले हैं
चिर प्रतीक्षा के छले हैं
युग-युगों से ये प्रणय के
साधना-पथ पर जले हैं
साँस से इनका करो निर्वाण, मेरे देवता लो !
आज स्वर के दीप का लघु दान मेरे देवता लो !

*

उर के खुले के खुले ही रहे द्वार
पथ में बिछे प्राण
मुखरित प्रणय-गान
जलते युगों से
नयन-दीप अम्लान !

पर शून्य में ही बिखरता रहा प्यार
उर के खुले के खुले ही रहे द्वार !
दिन थे प्रणय-हास
निशि प्यार के पाश
उड़ती रही ले
प्रणय-गंध हर साँस !
पर सत्य कब हो सका स्वप्न-अभिसार !
उर के खुले के खुले ही रहे द्वार !
ज्योतित किया द्वार
जीवन-शिखा बार
जलता रहा आरती—
दीप में प्यार !
पर बाँध पाये किसे ये किरण-तार ?
उर के खुले के खुले ही रहे द्वार !
पथ का मिटा ज्ञान
क्या काल का मान
अब तो हुआ क्षीण
अस्तित्व का भान
आराधना का मिला पर न आधार !
उर के खुले के खुले ही रहे द्वार !

सप्तपर्णी

द्वितीय संस्करण–१,०००

मुद्रक : अनुपम प्रेस, कानपुर